"कहानियों के बारे में लेखक का व्यक्तव्य क्या हो सकता है ? उपन्यास के बारे में तो फिर भी कुछ कहने की गुंजाइश होती है, क्यों कि उसमें जीवन का एक दर्शन होता है। कहानियों के सत्य में उतनी व्याप्ति नहीं होती; वह एक क्षण का, एक मनः स्थिति का सत्य है— एक दौड़ती लहर का गतिचित्र। वह गतिचित्र आपको दीख जाय और देखने में आपका मन भी थोड़ी देर के लिए उलझा जाय, तो लेखक को और कुछ नहीं चाहिए"

—'अज्ञेय'

जय-दोल

प्रतीक प्रकाशन माला.

जय-दोल

'अज्ञेय'

प्रगति प्रकाशन

नयी दिल्ली।

भूमिका

प्रस्तुत संग्रह की कई कहानियाँ बिल्कुल नयी हैं; कुछ पहले पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं और एक कहानी पहले संग्रह में आ चुकी है। उसे यहाँ संकलित करने का कारण यह है कि अब वह पहले संग्रह से निकाल दी जायगी। इस कहानी का नाम बदल दिया गया है; अब जो नाम है यही आरम्भ में रखा गया था और उपयुक्त भी है किंतु अंग्रेज़ी से बचने के लिए छोड़ दिया गया था।

कहानियों के बारे में लेखक का व्यक्तव्य क्या हो सकता है? उपन्यास के बारे में तो फिर भी कुछ कहने की गुंजाइश होती है, क्योंकि उसमें जीवन का एक दर्शन होता है। कहानियों के सत्य में उतनी व्याप्ति नहीं होती; वह एक क्षण का, एक मनःस्थिति का सत्य है—एक दौड़ती लहर का गति-चित्र। वह गति-चित्र आपको दीख जाय और देखने में आपका मन भी थोड़ी देर के लिए उलझा जाय, तो लेखक को और कुछ नहीं चाहिए।

यों कुल मिलाकर, जीवन के बारे में मेरे कुछ विचार अवश्य हैं, और मैं यह भी चाहता हूँ कि वे आपको रुचें, क्योंकि जीवन से, जीने की भावना से, मुझे प्रेम है, और मैं चाहता हूं कि वह प्रेम आपका अनुमोदन और सम्मान पाये।

—'अज्ञेय'

शारदीया, १९४०

क्रम-सूची

यह साक्षी हो कि
पठार के तीतरों को
नाम पुकारते
मैंने भी सुना है

पठार का धीरज

ऊँचे-नीचे टीले, खंडहर, मटमैली-भूरी हरियाली; धुँधले छोटे झोंप, अँधेरी खोहें; बिखरे हुए पत्थर, कुछ गोल, कुछ चपटे, कुछ उभरे, कुछ चुभन से तीखे; दूर पर चपटी लम्बी इमारत की बत्तियाँ, मानो रेलगाड़ी खड़ी हो।

ये सब यथार्थ हैं।

फिर पठार का धीरज-भरा फैलाव, दुराव-भरा सन्नाटा, झन-झनाती तेज़ हवा, चपटे पत्थरों पर मीने के-से हरे-चिट्टे-ललौंहे काही के तारा-फूल, उड़ते-उड़ते बे-भरोस बादल, तीतरों की चौंकी-सी पुकार 'त-तीत्तिरि-त-तीत्तिरि-त-तुः', दूर पर गीदड़ का रोने और भूँकने के बीच का-सा सुर।

ये भी यथार्थ हैं।

लेकिन यथार्थता के स्तर हैं। स्थूल वास्तव, फिर सूक्ष्म वास्तव जिसमें हमारे भाव का भी आरोप है, फिर—क्या और भी कोटियाँ नहीं हैं, जहाँ भाव ही प्रधान हो, जहाँ तथ्य वहीं पहचाना जाय जहाँ वह व्यक्ति-जीवन के प्रसार में गहरी लीकें काट गया हो, नहीं तो और पहचानने का कोई उपाय न हो, क्योंकि व्यक्ति-जीवन, व्यक्ति-जीवन के क्षण का स्पन्दन इतना तीव्र हो कि सब कुछ उसी से गूँज रहा हो, और कोई ध्वनि न सुनी जा सके?

उस चट्टानों और खंडहरों से भरे पठार की खुली, फैली, लचीली, प्रवहमान व्यापकता से अभिभूत किशोर अगर सहसा सुनता है कि तीतर की बोली त-तीत्तिरि-त-तीत्तिरि न होकर कुछ और है—क्या है वह ठीक-ठीक सुन लेता है—और उस रेलगाड़ी-नुमा इमारत की बत्तियाँ टिमटिमा कर उसे कुछ बहुत न ज़रूरी सन्देश कह रही हैं जो उसे चाँद निकलने से पहले सुन लेना है, क्योंकि फीके होते हुए दिग्बिन्दु से अगर चाँद उभर आया और खंडहर की अधूरी मेहराब पर

उसकी जुन्हाई पड़ गयी तो न जाने उनकी कौन-सी पोल खुल जायगी—अगर वह यह सब सुनता है, तो क्या उसका सुनना धोखा ही है, क्या वह भी वास्तविकता का नया स्तर नहीं है ? और क्या हमेशा ही हमारा जीवन एकाधिक स्तर पर नहीं चलता; हमारा अधिक तीव्रता के साथ जीना, क्या एक ही स्तर पर अधिक गति या विस्तार की अपेक्षा अधिक या नये स्तरों का हठात् जागा हुआ बोध ही नहीं है ? तीव्र जीवन के क्षण, नयी दृष्टि, नये बोध के क्षण, अनेक स्तरों पर जीवन के स्पन्दन की द्रुत अनुभूति—ये विरल ही होते हैं, जैसे कि तीसरा नेत्र कभी-कभी ही खुलता है...

किशोर ने धीरे से कहा, "सुनती हो, यह पक्षी क्या पुकार रहा है ? वह कहता है, प्र-मीला, प्र-मीला !"

प्रमीला निःशब्द हँस दी।

"सच, तुम सुन कर देखो—वह देखो—प्र-मीला, प्र-मीला—"

प्रमीला ने मानो कान दे कर सुना। अब की वह ज़रा जोर से हँस दी....हाँ, ठीक तो, अगर मान कर अनुकूलता से सुनें तो सचमुच तीतर उसी का नाम पुकार रहे हैं, 'प्रमीला, प्रमीला !'

उसने धीरे से किशोर का हाथ अपने हाथ में लेकर दबा दिया।

"और अभी जब चाँद निकलेगा, तब तुम देखना, वह जो धुँधली-सी मेहराब दीखती है न टूटी हुई, उसका आकार भी ठीक 'प्र' जैसा बन जायगा, मानो चाँदनी तुम्हारा नाम लिख रही हो।"

प्रमीला की आँखें चमक उठीं। उसने कहा, "हाँ, और जब मोर पुकारेगा तो मैं सुनूँगी, वह कह रहा है, 'किशोर, किशोर।' और जब चाँद निकलेगा और बादलों में रुपहली झालर लग जायगी—"

"हँसी करती हो ?"

"नहीं...हँसी क्यों करूँगी भला ? मैं सच कह रही हूँ—ये जो दूर-दूर तक पलास के झुरमुट हैं, इनकी काँपती पत्तियाँ न जाने किसके-किसके नामों पर ताल देकर नाचती हैं, और वह कुंड के पानी

में चक्कर काटती टटीहरी चौंक कर न जाने किसे बुलाती है—हम सारा इतिहास थोड़े ही जानते हैं ? केवल अपने नाम सुन सके, वह भी इस लिए कि—इसलिए कि—"

"कहो न ?"

"इसलिए कि मैं—नहीं कहती। कहना नहीं चाहिए।"

"कहो भी न ?"

"इस लिए कि मैं—कि तुम—तुम मुझे—" और प्रमीला ने पास आकर अपनी आवाज़ को किशोर के कन्धे की ओट करते हुए कहा, "तुम मुझे प्यार करते हो।"

किशोर का हाथ घेरा हुआ-सा बढ़ गया, पर प्रमीला के आसपास शून्य में ही एक वृत्त बना कर खड़ा रहा।

"और इसी तरह कुंवर राजकुमारी को प्यार करता होगा, और कुंड के किनारे मिलने आता होगा, और उसी की बातें पलासों ने सुन रखी हैं और हवा को सुनाते हैं..."

दूर गीदड़ फिर भूंका। किशोर तनिक-सा चौंका; प्रमीला ने पूछा, "क्या—कौन है ?"

किशोर ने भी अचकचाये से स्वर में कहा, "कौन है ?"

थोड़ी दूर पर एक स्त्री स्वर बोला, "तुम लोग वास्तव से भागना क्यों चाहते हो ? कुँवर राजकुमारी को प्यार नहीं करता था।"

"फिर किस को करता था ? हाथी पर सवार होकर रोज़ राज-कुमारी से मिलने आता था तो—"

"अपनी छाया को। चन्द्रोदय होते ही वह कुंड पर आता था, हाथी पर सवार उस की अपनी छाया कुंड के एक ओर से बढ़ कर दूसरे किनारे नहाती हुई राजकुमारी की जुन्हाई-सी देह को घेर लेती थी। उसी लम्बी बढ़ने वाली छाया से कुंवर को प्रेम था, राजकुमारी तो यों ही उसकी लपेट में आ जाती थी।"

"ऐसा ? तो वह रोज़ आता क्यों था ? हाथी को पानी में बढ़ा कर

जब वह दोनों बाहें राजकुमारी की ओर फैलाता—"

"तुम नहीं मानते ? मैं कुँवर से ही पुछवा दूं ? अच्छा, ठहरो, वह आता ही होगा—देखो—"

किशोर ने देखा। एक बड़ी-सी छाया कुंड के आर-पार पड़ रही थी—नीचे गोल-सी, मानो हाथी की पीठ; ऊपर सुघड़, लम्बी और नोकदार, मानो टोपी पहने राजकुमार।

हाथी धीरे-धीरे पानी में बढ़ रहा था। जब गहरे में उस की पीठ का पिछला हिस्सा पानी में डूब गया, तब वह खड़ा हो कर पानी में सूँड़ हिलाने लगा। कुँवर ने एक बार नजर चारों ओर दौड़ायी; राजकुमारी को न देख कर वह हाथी की पीठ पर खड़ा हो गया। दोनों हाथों को मुँह के आस-पास रख कर उसने दो बार मोर के पुकारने का-सा शब्द किया—"मैं-तूः मैं-तूः।" और फिर धीरे से पुकारा, "राजकुमारी! राजकुमारी हेमा!"

स्त्री-स्वर ने कहा, "मैं आ रही हूँ वहाँ...कुँवर के पास। लेकिन वह मुझे नहीं, अपनी छाया को प्यार करता था।"

गोरोचन की एक पुतली-सी कुंड की सीढ़ियाँ एक-एक कर के उतरने लगी। निचली सीढ़ी पर पहुँच कर वह थोड़ी देर रुकी, देह पर ओढ़ी हुई चादर उस ने उतारी और फिर एक पैर पानी की ओर बढ़ाया। पानी में चाँदनी की लहरें-सी खेल गयीं।

हाथी की पीठ पर खड़े राजकुमार ने शरीर को साधा, फिर एक सुन्दर गोल रेखाकार बनाता हुआ पानी में कूद गया, क्षण भर में तैर कर पार जा पहुँचा, दोनों साथ-साथ तैरने लगे।

"हेमा, तुम आज उदास क्यों हो ? तुम्हारा अंग-चालन शिथिल क्यों है ?"

"नहीं तो। क्या मैं बराबर साथ-साथ नहीं तैर रही हूँ ?"

"हाँ, पर. . .वह स्फूर्ति नहीं है—तुम जरूर उदास हो—"

"नहीं-नहीं, मै तो बहुत प्रसन्न हूँ। मेरी तो आज सगाई हो गयी है—"

"क्या? राजकुमारी हेमा—क्या कहती हो तुम? ठट्ठा मत करो—" कुँवर तैरता हुआ रुक गया।

हेमा ने रुक कर उसे भरपूर देखते हुए कहा, "हाँ, आज तिलक हो गया।"

"कौन—किस के साथ? तुम कैसे मान सकीं?"

हेमा ने धीरे-धीरे कहा, "मैं राजकुमारी हूँ। ऐसी बातों में राजकुमारियों की राय नहीं पूछी जाती। साधारण कन्याएँ राय देती होंगी, पर हमारा जीवन राज्य के कल्याण के पीछे चलता है।"

"और हमारा कल्याण—"

"वह उसी में पाना होगा। अपना अलग हानि-लाभ सोचना क्षत्रिय-वृत्ति नहीं है, वैसा तो बनिये—"

"यह सब तुम्हें किस ने कहा है?"

"मेरी शिक्षा यही है—"

दोनों किनारे की ओर बढ़ रहे थे। कुँवर ने लपक कर सीढ़ी को जा पकड़ा, और बाहर निकल कर उस पर जा बैठा। हेमा भी निकल कर पास खड़ी हो गयी। शरीर से चिपकते गीले कपड़ों के कारण वह और भी पुतली-सी दीख रही थी, गोरोचन का रंग और चमक आया था।

दोनों देर तक चुप रहे। फिर कुँवर ने कहा, "तो—यह क्या विदा है?"

हेमा ने अचकचा कर कहा, "नहीं, नहीं!"

"सुनो हेमा, राजकुमारी, तुम—अभी मेरे साथ चलो। हाथी पर सवार होकर यहाँ से निकलेंगे, फिर घोड़े लेकर—"

"कहाँ?"

"हाथ में वल्गा, पार्श्व में हेमा राजकुमारी—तो सारा देश खुला पड़ा है...उधर कामरूप-मणिपुर तक, उधर विन्ध्य के पार कन्या

कुमारी तक, नहीं तो उत्तराखंड के पहाड़ों—"

"और यहाँ पीछे—विग्रह और मार-काट, और लोहे की साँकलों में बँधे हुए बन्दी, और—"

"प्यार पीछे नहीं देखता, हेमा; उसकी दृष्टि आगे रहती है। मैं देखता हूँ वह सुन्दर भविष्य जिस में हम दोनों—"

"मैं भी देखती हूँ, कुँवर, मगर वह भविष्य वर्तमान से काट कर नहीं, उसी का फूल है— जैसे बिना पत्ती के भी मधूक में नया बौर. . . जैसे पलाश की फुनगी को चूमती हुई आग—"

"नहीं राजकुमारी, मैं सम्पूर्ण जलना चाहता हूँ। धू-धू कर के धधक उठना, बेबस, पागल, जैसे चैत्र में पलास का समूचा बन—"

"कुँवर!"

"कहो तुम मेरे साथ चलोगी—अभी—"

राजकुमारी चुप रही। फिर उसने धीरे-धीरे कहा, "सगाई तो हुई है, क्योंकि नयी सन्धि भी हुई है। विवाह की तो अभी कोई बात नहीं है; क्योंकि विवाह के बाद शायद सन्धि में वह बल नहीं रहेगा—मैं उधर की जो हो जाऊँगी। इस प्रकार मैं देश की शान्ति की धरोहर हूँ. . . इधर की कुमारी, उधर की वाग्दत्ता—मैं कैसे भाग जाऊँ?"

"तो क्या कहती हो?"

"कुछ नहीं कहती कुँवर। मैं रोज़ यहाँ आती हूँ, आती रहूँगी। तुम—तुम भी आते हो। यह कुंड हमारा अपना राज्य है. . .नहीं, राज्य नहीं, हमारा घर है जहाँ हम अपनी इच्छा के स्वामी हैं, धरती के दास नहीं। यहीं हम रहते रहेंगे, चाँदनी और तारों-भरा अन्धकार हमें घेरे रहेगा—कुँवर, क्या तुम मुझे ऐसे ही नहीं प्यार कर सकते?"

"और भविष्य?"

"वह किसी का जाना नहीं है। और उतावली कर के उस को नष्ट करना—"

"धीरज! धीरज! हेमा, मैं तुम्हें चाँदनी की तरह नहीं चाहता

जो आवे और चली जावे, मैं तुम्हें—मैं तुम्हें—अपनी छाया की तरह चाहता हूँ, हर समय मेरे साथ, जब भी चाँदनी निकले तभी उभर कर मुझे घेर लेने वाली—"

"और जब चाँदनी न हो तब क्या अन्धकार मुझे लील लेगा—मैं खो जाऊँगी ?" राजकुमारी का शरीर सिहर उठा।

"तब तुम मुझी में बसी रहोगी, राजकुमारी !"

दूर कहीं पर चौंककर तीतर पुकार उठे। पहले एक, फिर दूसरी ओर से और एक। राजकुमारी ने सचेत होकर कहा, "अच्छा, कुँवर, मैं चली। कल फिर आऊँगी। तुम चिन्ता मत करना।"

कुँवर ने कहा, "राजकुमारी !" फिर कुछ भर्राये से स्वर में कहा—"हेमा !"

हेमा ने धीरे से कहा, "अपने चाँद को तुम्हें सौंप जाती हूँ। देवता तुम्हारी रक्षा करें, कुँवर—"

उसने जल्दी से चादर ओढ़ी और निःशब्द लचीली गति से सीढ़ियाँ चढ़ चली।

कुँवर ने एक बार दक्षिण आकाश में उभरे वृश्चिक को देखा, फिर झुक कर पानी में हो लिया और क्षण भर में हाथी की पीठ पर पहुँच गया। अँधेरे का एक पुंज-सा पानी में से उठा और कुंड के छोर पर अँधेरे की एक बड़ी-सी कन्दरा में खो गया।

हेमा का स्वर फिर पास कहीं बोला, "समझे ?"

किशोर ने कहा, "राजकुमारी, तुम तो कहती हो वह प्यार नहीं करता ? वह तो—"

"कब कहती हूँ नहीं करता था ? पर मुझे नहीं, अपनी प्रलम्बित छाया को। तभी तो मुझे छोड़कर चला गया—"

"चला गया ?"

"हाँ, दूसरे दिन वह नहीं आया। मैं देर रात तक कुंड पर बैठी रही। तीसरे दिन भी नहीं। फिर पता लगा, जहाँ मेरी सगाई हुई थी

वहाँ—वहाँ उसने आक्रमण कर दिया है एक अश्वारोही टुकड़ी के साथ—"

"फिर ?"

"फिर ! इतिहास बाँचना मेरा काम नहीं है, अपरिचित ! वह सब तुमने पढ़ा होगा—कितने राज्य, कितने राजकुल विग्रहों में घुल गये, इसका लेखा-जोखा रखना तो तुम्हारी शिक्षा का मुख्य अंग है ! हम तो स्वयं जीने वाले हैं, जीवन के प्रति समर्पित होकर, क्योंकि जीवन का एक अपना तर्क है जो इतिहास के तर्क से—"

"पर कुँवर ? राजकुमारी, कुँवर का क्या हुआ ?"

"वह नहीं आया। दूसरे दिन नहीं, तीसरे दिन नहीं, सप्ताह नहीं, पखवाड़े नहीं। महीने और वर्ष बीत गये। विग्रह फैला और फैलता ही गया। वह नहीं आया फिर। और—आज भी मैं नहीं जानती कि मैं—कि मैं केवल वाग्दत्ता हूँ, कि विधवा, कि—कि केवल इस कुंड की विवाहिता वधू, जिसकी लहरियों से खेलते मैंने वर्ष बिता दिये।"

"पर यह तो कुछ समझ में नहीं आया। बात कुछ बनी नहीं।"

"बात का न बनना ही उसका सार है, अपरिचित ! प्यार में अधैर्य होता है, तो वह प्रिय के आसपास एक छायाकृति गढ़ लेता है, और वह छाया ही इतनी उज्ज्वल होती है कि वही प्रेय हो जाती है, और भीतर की वास्तविकता—न जाने कब उसमें घुल जाती है, तब प्यार भी घुल जाता है। तुम मुझे देख रहे हो, क्योंकि मेरे साथ तुम्हारा कोई रागात्मक सम्बन्ध नहीं है। मैं—जैसे मैं खँडहर की जमी हुई चाँदनी हूँ...कुंड की एक विजड़ित लहर हूँ। पर मुझे देखो, देर तक देखो, लालसा से देखो—तब देखोगे, मेरे आसपास कितनी घनी दुर्भेद्य छाया तुमने गढ़ ली है—क्यों भद्रे, तुम क्या कहती हो ?"

प्रमीला इस सम्बोधन से अचकचा गयी। उसने तनिक-सा किशोर की ओर हटते हुए कहा, "मैं—मैं—कुछ नहीं राजकुमारी, मैं तो—"

राजकुमारी ईषत् स्मित भाव से बोली, "मैं तो जो कहूँगी इस

पार्श्ववर्ती अपरिचित से कहूँगी, यही न ?" फिर कुछ गम्भीर होकर, "लेकिन भद्रे, वही ठीक है। यह फैला पठार देखो—आकाश, आँधी, पानी, शीतातप, सब के प्रति यह समर्पित है, किसी के आसपास छायाएँ नहीं गढ़ता, और सब की वास्तविकता देखता है। तुम तो जानती हो, तुम मेरी बहिन हो। तुम्हें कुछ कहना ही हो, ऐसा क्यों आवश्यक है ? यह पठार भी तो कुछ नहीं पूछता ! अपरिचित, क्या यह पठार वास्तव है, तुम्हें लगता है ?"

"हाँ, और नहीं। मैं नहीं जानता। इस समय मैं मानो इस से आत्मसात् हूँ, अलग उस को जोखने की दूरी मुझमें नहीं।"

"वह तो जानती हूँ। पठार से, कुंड से, आत्मसात् न होते, तो क्या मुझे देखते ? मेरी बात सुनते ? क्योंकि मैं—"

"राजकुमारी, तुम कौन हो ? क्या तुम वास्तव नहीं हो ?"

"वास्तव !" राजकुमारी हँसी। तारे मानो कुछ और चमक उठे, और हवा कुछ तेज़ हो गयी। "वास्तव तो हूँ, शायद; जो कुछ है सभी वास्तव है। लेकिन वास्तविकता के स्तर हैं। धीरज हमें एक साथ ही अनेक स्तरों की चेतना देता है, अधैर्य एक प्रकार का चेतना का धुआँ है जिससे बोध का एक-एक स्तर मिटता जाता है और अन्त में हमारी आँखें कडुवा जाती हैं, हमें कुछ दीखता नहीं—"

फिर वही तीतर बोले—'त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि !"

राजकुमारी ने कहा, "कभी इस पठार के तीतर और मोर दूसरे नाम पुकारा करते थे। मैंने अपना नाम अनेक बार सुना था। पर अब—"उसने फिर मुस्करा कर अर्थ-भरी दृष्टि से दोनों को देखा, "अब कदाचित् वह और नाम पुकारते हैं—है न ?"

तीतर फिर बोले, 'त-तीत्तिरि त-तीत्तिरि।'

प्रमीला कुछ लजा गयी। किशोर ने अचम्भे में आकर कहा, "राजकुमारी, तुम कौन हो ?"

"मैं कोई नहीं हूँ। मैं पठार का धीरज हूँ। वह दृष्टि देता है।

लेकिन मैं चली—"

एक जोर का झोंका आया। कुंड पर अठखेलियाँ करती चाँदनी लहरा कर चक्कर खा कर मूर्छित हो गयी, अदृश्य टटीहरी उड़ता वृत्त बना चीख उठी, बादल का एक चिथड़ा चाँद का मुँह पोंछ गया, पलाश के झोंप सनसना उठे, कहीं गीदड़ भूँका, प्रमीला किशोर के और निकट सरक आयी, और उसे मग्न-सा देख कर बड़े हल्के स्पर्श से उसे छूकर स्वयं ठिठक गयी; किशोर ने अचकचाये निःशब्द स्वर से मानो कहा, "कौन—कहाँ—" और फिर सचेत होकर चारों ओर आँखें दौड़ायीं।

कहीं कोई नहीं था, केवल पठार का सन्नाटा।

तीतर एक साथ जोर से पुकार उठे, 'त-तीत्तिरि, त-तीत्तिरि।'

किशोर और प्रमीला की आँखें मिलीं, स्थिर होकर मिलीं और मिली रह गयीं।

नहीं, यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि तीतर किसी का भी नाम पुकारे। पठार की अपनी एक वास्तविकता है, उन की अपनी एक वास्तविकता है। दोनों समान्तर है, सहजीवी हैं, संयुक्त हैं; यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि वास्तविकता के अलग-अलग स्तर कहीं भी एक दूसरे को काटें। जो बोध स्वयं ही हो; चेतना स्वतः उभर कर, फैल कर जिस स्तर को भी छू आवे, आवे; चेतना स्वच्छन्द रहे, निर्धूम रहे, क्योंकि धीरज उन में है, उन में रहेगा—

किशोर ने हाथ बढ़ाकर प्रमीला के दोनों शीतल हाथ थाम लिये।

तीतर फिर बोला, 'त-तीत्तिरि!'

आँखों में बड़ी हलकी मुस्कान लिये दोनों ने एक दूसरे को सिर से पैर तक देखा।

और स्थिर धीरज-भरे विश्वास से जान लिया कि छाया किसी के आसपास नहीं है, दोनों वास्तव में सामने-सामने हैं, हैं।

तब चाँद गोरोचन के बहुत बड़े टीके-सा बड़ा हो आया।

साँप

अच्छाई-बुराई की बात मैं नहीं जानता। कम-से-कम इतनी नहीं जानता कि सब के, और खास कर अपने, बारे में यह फैसला कर सकूँ कि हम अच्छे हैं कि बुरे। लेकिन उस के बिना जी न सकें, चल न सकें, चाह न सकें, ऐसा तो नहीं है ? उस के लिए जितना जरूरी है, उतना मैं जानता हूँ कि वह अच्छी है। और यह भी जानता हूँ कि इस बात को जाने रहना, पकड़े रहना जरूरी है कि वह अच्छी है।

सबेरे-सबेरे उस से मिलने गया था। यों तो अक्सर हम मिलते हैं, पर वह सबेरे-सबेरे का मिलन कुछ बहुत विशेष था। मैं चौंक कर उठा था, तो एक तो जिस स्वप्न से उठा था, वह मेरे मन पर छाया था; दूसरे आँख खोलते ही सामने देखा, बगुलों की एक छोटी-सी डार आकाश में उड़ी जा रही थी। तो पहले तो मैं इस में उलझा; स्वप्न बहुत मीठा था, उस की मिठास बिगड़ने का डर नहीं था, बल्कि उलझने से ही डर था, यों छोड़ देने से वह और छायी जा रही थी. . .इस लिए बगुलों की डार पर ही चित्त स्थिर किया। न जाने उस से क्यों एक हिलोर, एक ललक मन में उठी। उसे मैंने कविता में बाँधना चाहा—कविता मुझे नहीं आती, छन्द बाँधने से तो कसीदा काढ़ना कम दुष्कर मालूम होता है; पर हाँ, आधुनिक ढंग की, अनकहनी को अर्थ की बजाय ध्वनि से कहना चाहने वाली कविता से कुछ ढाढस बँधता है कि हाँ, यह तो हीरा-पन्ना-मोती जड़ा देव-मुकुट नहीं है, देसी पहरावा है, यह दुपल्ली शायद हम भी ओढ़ लें। तो मैं ने कहना चाहा, "भाले की अनी-सी बनी, बगुलों की डार, फुटकियाँ छिटफुट, गोल बाँध डोलतीं, सिहरन उठती है एक देह में, कोई तो पधारा नहीं मेरे सूने गेह में, तुम फिर आ गये, क्वाँर ?" देह में, गेह में तो बाकायदा तुक बन गयी, और अन्त में क्वाँर की तुक जो दूर कहीं बगुलों की डार से मिल बैठी तो जैसे स्मृति में कविता छा गयी, और कुछ पूरेपन का भाव आ गया—

मुझे अच्छा लगा। इतना अच्छा लगा कि फिर आगे नहीं सोचा; फिर स्वप्न ही स्वप्न था और मैं फिर उसी में डूब गया। स्वप्न-भरी आँखें लिये-लिये ही उस के पास पहुँचा, और उससे बोला, "घूमने चलोगी? दूर—लम्बी सैर को—जंगल में को चलोगी?"

इतना तो खैर उसे जवाब का मौका देने से पहले कह ही गया। पर इतना ही नहीं। मन ही मन आगे और भी बहुत कुछ कह गया, जैसे बगुलों की डार देख कर मन-ही-मन क्वाँर से बतिया गया था, वह भी कविता में। मैंने कहा कि चलोगी, जंगल में को, जहाँ सन्नाटा है, एकान्त है, जहाँ सब अपनी-अपनी धुन में ऐसे मस्त हैं कि मस्ती की एक नयी धुन बन गयी है जिसमें सब गूंजते हैं—पर अलग-अलग, बिना एक दूसरे पर हावी हुए जैसे शहर में होता है—शहर में जहाँ तुम कुछ ही करो, दूसरों को बड़ी दिलचस्पी है, टाँग नहीं अड़ायेंगे तो शोर तो मचायेंगे, और नहीं तो राह चलते खँखारते हुए ही चले जायँगे! जंगल में, मस्त, मनचले, निर्जन जंगल में जहाँ बड़ा मीठा-मीठा धुंधला अँधेरा है, आसरा और ओट देने वाली घनी छाँह की बाँह है—उस जंगल में चलोगी? वहाँ जहाँ कोई न होगा, वहाँ—लेकिन इतना कह कर न जाने क्यों जबान रुक जाती थी? मन ही रुक जाता था, भोर का देखा हुआ स्वप्न ही छा जाता था। स्वप्न मुझे याद था, बार-बार उभर कर याद आता था पर गूँगे की गुड़ की तरह—स्वप्न-भरी आँख से मैं अब भी देखता था कि उस में हम—

वह चल पड़ी मेरे साथ सैर को। वह अच्छी जो है। मैं जानता हूँ। मेरे साथ-साथ चलती जा रही थी, और साथ चलते-चलते मेरे जैसे दो मन हो गये थे। एक उमँग रहा था कि वह कितनी अच्छी है, कितनी अच्छी है और मेरे साथ है और दूसरा अभी स्वप्न की खुमारी में ही था, मीठे स्वप्न कि जिसमें हम—

हम लोग जंगल में पहुँच गये। पहले गीली-गीली, भारी-भारी, ओस से दूधिया घास—उस से भी मैंने चलते-चलते बात कर ली कि

वाह, ऊपर से तो चिट्टी-चिट्टी दूध-धुली साधू-बाबा, भीतर-भीतर उमंगों से कितनी हरी हो रही है, क्या कहा है किसी ने, अरमान मचलते हैं—फिर झाड़ियाँ शुरू हो गयीं, फिर छोटे पेड़, फिर न जाने कब जंगल चुप के से घना हो गया। पहले करंज और झाऊ और ढाक, फिर सेमल और तून और फिर बड़े-बड़े महारूख। जमीन भी ऊँची-नीची हो गयी, कहीं टीला, कहीं गड्ढा, कहीं पगडंडी तो कहीं पानी की लीक जहाँ कुछ दिन पहले नाला बहता होगा। लेकिन टीला तो उसे कहें जो खुला हो, जिसकी टाँट देखी जाय, यहाँ तो सब ऐसा ढका था! फिर बीहड़ में सहसा एक थोड़ी सी खुली जगह भी, जरा ऊँची मगर वैसे चिपटी, जैसे एक चौकी-सी पड़ी हो झाड़ियों में, उस पर एक पुराना देवी-मन्दिर। मैं इतनी उमँगती उदार तरंग में था कि कह गया मन्दिर, नहीं तो उस छोटी सी, अध-टूटी, काही से काली देवली को बहुत कोई माई का थान कह देता, मन्दिर! लेकिन मैंने देवी का मन्दिर ही देखा; बीहड़ बन के बीच मन्दिर; मैंने सोचा यहाँ कभी तान्त्रिक साधक बैठ कर देवी को साधते होंगे। और उन की साधना के औघड़ रूप भी जल्दी से मेरी दृष्टि के सामने दौड़ गये—बहुत जल्दी से, क्योंकि दृष्टि असल में तो अभी स्वप्न से आविष्ट थी, उसे साधकों की रंगीन विकृतियों से क्या मतलब था, वह तो उसी स्वप्न को देख रही थी जिस में हम—

हम...यानी वह और मैं, और वह मेरे साथ चली आ रही थी। बड़े भोलेपन से। उसकी आँखों में मेरी तरह दोहरी दीठ नहीं थी, वे खुली बाउड़ियाँ थी, स्वच्छ, शीतल उड़ते बादल की परछाईं दिखाने वाली। वह वैसी ही मुग्ध, अपने में सम्पूर्ण मेरे साथ चली आ रही थी। मैं उसे देख लेता था, उस के साथ होने की बात सहसा मन में उभरती थी, फिर बीहड़ बन के अकेले, हरे, गीले धुँधलेपन की, फिर मेरी आँखें उस की आँखों की कोर से एक ढुलकी हुई लट के साथ फिसल कर उस के ओठों तक आती थीं और फिर मेरा मन ठिठक जाता था। फिर आगे नहीं सोचता था, फिर पीछे लौट जाता था क्योंकि पीछे

स्वप्न था, स्वप्न जो पूरा था, जिस स्वप्न में हम...

तभी सामने नीचे कुछ तीखी सुरसुराहट हुई। हम ठिठक गये। सहसा वह बोली, "वह देखो सामने, साँप।"

मैंने भी देख लिया। घास के किनारे पर, मन्दिर के आस-पास की बजरी पर रेंगता हुआ, ललौंहे-भूरे रंग का साँप था।

वह गोल-गोल आँखें कर के बोली, "कितना सुन्दर है साँप!"

उस की आँखें सचमुच बड़ी भोली थीं। डर उन में बिलकुल नहीं था। केवल एक भोला विस्मय, एक मुग्धभाव कि अरे, ऐसी सुन्दर चीज़ भी होती है, वह भी मिट्टी में पड़ी हुई, अनदेखी, उपेक्षित!

मैंने भी देखा। सचमुच साँप सुन्दर होता है। निर्माता की एक बड़ी सफलता है, बड़े कलाकार की प्रतिभा का एक करिश्मा—कहीं कोने नहीं, कहीं अनावश्यक रेखा नहीं, बाधा नहीं, भार नहीं; लहरीली, निरायास, लय-युक्त गति, बिजली-सी त्वरा-युक्त लेकिन बिजली की कौंध में भी कहीं नोकें होती हैं और साँप की गति निरा प्रवाह है... सुन्दर, लचीला, ललौंहा-भूरा रंग, झिलमिल चमकीली केंचुल, चित्तियाँ जो न मालूम केंचुल के ऊपर हैं कि भीतर, ऐसी काँच के भीतर से झाँकती-सी जान पड़ती हैं...

मैंने तो देख लिया। फिर मैं उसे देखने लगा, और वह साँप को देखती रही। हम दोनों जैसे मन्त्रमुग्ध थे, लेकिन एक ही मन्त्र से नहीं। वह साँप को देखती थी, मैं उसे देखता था। वह साँप के लयमय प्रवाह पर विस्मय कर रही थी, मैं उसके चेहरे की मानो क्षण भर के लिए थम गयी चंचल बिजलियों को देख रहा था और सोच रहा था, कोने एक दूसरे को काटते हैं, पर लहरीली गतिमान रेखाएँ काटती नहीं, झट से कौंध कर मिल जाती हैं, बिजली की कौंध तो है ही लय होने के लिए; लहर को देखो और खो जाओ, डूब जाओ, लय हो जाओ। उस की आँखें साँप पर टिक कर मुग्ध थीं। मेरी आँखों में

मेरे भोर में देखे हुए स्वप्न की खुमारी थी। स्वप्न में मैंने इसी तरह देखा था कि....

साँप आगे बढ़ गया। मन्दिर की दीवार के साथ सट गया, ऐसा सट कर चिपक गया कि बस जैसे मन्दिर की रेखा से अलग उस की रेखा नहीं है, जैसे मन्दिर की नींव से ही वह सटा हुआ उठा है और वैसा ही रहेगा।

और चिपके-चिपके वह स्थिर नहीं था, वह आगे सरक रहा था। आगे-आगे, और गहरा चिपकता हुआ। जैसे उस की देह की रगड़ की आरी से कट कर मन्दिर की दीवार के नीचे उस के लिए जगह बनती जाती हो और उस में वह धँसता-पैठता जाता हो।

बढ़ता हुआ वह हमारे सामने की दीवार के कोने तक बढ़ कर दूसरी दीवार के साथ मुड़ चला। थोड़ा और बढ़ा, फिर रुक गया। आधा इस दीवार के साथ जो हमारे सामने थी; आधा साथ की, जो हमारी ओट थी। उस का सिर ओट हो गया, कमर दोनों दीवारों के जोड़ पर टिक गयी।

मैंने सहसा कहा, "इस वक्त यह कैसा वेध्य है। अगर मैं मारना चाहूँ, तो निरीह मर जाय—"

"हाँ, लेकिन क्यों मारना चाहो? इतना सुन्दर—"

मैंने अपनी ही झोंक में कहा, "अभी ढील मारूँ, तो बस, काटने को मुड़ भी न सके—"

"क्या ज़हरीला है?"

"हो भी तो क्या? इस समय असहाय है, मौके की बात है, कुछ कर भी न सके, सारा रूप लिये ज्यों का त्यों पड़ा रह जाय बिटुर-बिटुर तकता!"

उस की पहिले ही मुग्ध गोल आँखें करुणा से और बड़ी-बड़ी हो आयीं। बोली, "बेचारा कितना असहाय!" कितनी करुणा थी उस स्वर में, कितना निरीह था वह स्वर कि शायद साँप से भी अधिक

निरीह ! स्वप्न में मैंने देखा था वह और मैं—हम—लेकिन स्वप्न की उलझन जैसे सुलझ गयी, मेरी दोहरी दीठ इकहरी हो गयी और मैंने देखा, मैं अलग यहाँ, वह अलग वहाँ, बड़ी सुन्दर, बड़ी अच्छी, मेरे साथ जंगल में अकेली, लेकिन अलग वहाँ । और हम दोनों खड़े उस सुन्दर चित्तीदार, ललौंहे-भूरे, लचीली लहर-से बलखाते साँप को देखते रहे । मैं भी, वह भी । चाहे मैं साँप को जितना देख रहा था उस से अधिक उसी को देख रहा था । साँप तो मन्दिर की भीत से सटा खड़ा था, और वह मुझ से सटी खड़ी थी ।

फिर मैंने कहा, "चलो आगे चलें ।"

हम लोग चल पड़े । पर असल में आगे हम नहीं चले, हम लौट आये । वह बीहड़ में का मन्दिर वहीं खड़ा रह गया । तान्त्रिक वहाँ कभी अपनी औघड़ पूजा किया करते होंगे, किया करें । उन्होंने वैसा सुन्दर साँप कभी थोड़े ही देखा होगा—कम से कम उतना असहाय और वेध्य ? यों तो मैंने भी कभी नहीं देखा, स्वप्न में भी नहीं, यद्यपि सपने मैंने एक से एक सुन्दर देखे हैं, जिन्हें मैं कह भी नहीं सकता । और किसी को तो क्या, उसको भी नहीं, जो मैं जानता हूँ कि इतनी अच्छी है, चाहे मैं अच्छा होऊँ या बुरा ।

आदम की डायरी

मैं क्यों और कैसे बना ?

'बनना' क्या होता है, मैं जानता हूँ। क्योंकि यवा ने और मैंने मिल कर इस सुन्दर उद्यान की मिट्टी में कई बार टीले बनाकर ढहा दिये हैं, कई बार अपने पैरों के ऊपर गीली मिट्टी जमा कर पैर खींच कर वैसी ही खोह बनायी है जैसी में हम रहते हैं...यह भी म जानता हूँ कि जैसे पैर टँक लेने से और हाथ छिपा लेने से भी उन की बनाई हुई खोह बनी ही रहती है, उसी तरह जिन चीजों का बनाने वाला नहीं दीखता, उनका भी कोई बनाने वाला होता अवश्य है। खोह के भीतर पैर के आकार का खोखल देख कर हम उस पैर की कल्पना कर सकते हैं जिस पर वह कन्दरा टिकी थी; बाहर से कन्दरा की दीवार पर उँगलियों की छाप देख कर हाथ का अनुमान कर लेते हैं...इसी तरह यदि हम इस उद्यान के रंग-बिरंगे, सूखे-गीले, चल-अचल विस्तार से परे देख सकते, तो शायद इस के भीतर भी हमें किसी के पैर के आकार की प्रतिकृति दीख पड़ती, इस पर भी किसी के हाथों की छाप पहचानी जा सकती... हम छोटे हैं, बनाने वाला बड़ा होगा; हो सकता है कि जैसे इस उद्यान की मिट्टी पर बड़ी लम्बी लकीर बना सकता हूँ उसी तरह बनाने वाला वैसे तो छोटा हो पर बड़ाई को भी घेर सकने की, मिटा और फिर बना और आड़ा-तिरछा बना सकने की भी सामर्थ्य रखता हो...

तो मुझे कैसे, किस ने, क्यों बनाया ?...समझ में नहीं आता। वह कोने के पेड़ में पड़ा हुआ साँप अपनी गुंजलक खोल कर और जीभ लपलपा कर कहता था—पर साँप की बात मुझे बुरी लगती है...वह जब इधर-उधर पलोटता हुआ सरकता है और मिट्टी पर सूखे नाले-सी लकीर डालता चलता है, तब मेरे रोएँ न जाने क्यों खड़े हो जाते हैं। साँप को देखता हूँ, तो दिन-भर अनमना-सा रहता हूँ; यवा पूछ-पूछ कर तंग कर

देती है कि क्यों ? पर मेरा दिन अच्छा नहीं बीतता...साँप अनिष्ट है...

❀ ❀ ❀

क्यों उस ने मेरे मन को ठीक वैसे ही घेर कर बाँध लिया है जैसे वह उस फल देने वाले पेड़ को अपनी गुंजलक में कसे रहता है ? क्यों मेरा मन या तो सोच ही नहीं सकता, या साँप के दबाब के अनुसार ही सोच सकता है ?

वह मुझे देखकर हँसता है। उसकी हँसी में कुछ ऐसा होता है, जो काँटे की तरह सालता है। वह बताना चाहता है कि वह मुझ से अधिक जानता है, मुझ से अधिक समर्थ है मुझ से अधिक पराक्रमी है। किन्तु मैं तो यवा को देख कर यवा को दर्द पहुँचाने के लिए कभी नहीं हँसा हूँ ? यवा भी तो बहुत-सी बातें नहीं जानती जो मैं जानता हूँ, यवा से भी तो बहुत से काम नहीं होते जो मैं कर सकता हूँ ।

यवा मेरे साथ रहती है। यवा मेरी है। मैं उस के लिए फल लाता हूँ, मैं उस के लिए फूल तोड़ कर बिछाता हूँ। मैं अपने मुँह में पानी लेकर एक-एक घूँट उस के मुँह में छोड़ता हूँ। मुझे इस में सुख मिलता है कि जो काम मैं करता हूँ वे सब के सब यवा न कर सकती हो। मुझे इस में भी सुख मिलता है कि जो काम वह कर भी सकती है, वे भी मेरी मदद के बिना न करे। यवा मेरी है।

साँप तो मेरा कोई नहीं है ? उस का दिया हुआ तो मैं कुछ लेता नहीं ? एक फल दिखा कर कभी वह बुलाया करता है, कभी डराया करता है, कभी तिरस्कार से हँसता है, पर मैंने तो वह फल कभी चाहा नहीं है, मैंनें तो उस की ओर देखा भी नहीं है, मैंने साँप की बुलाहट की अनसुनी ही सदा की है, तब वह क्यों हँसता है ?

मैं साँप का नहीं हूँ, क्या इसी लिए वह हँसता है ? यदि मैं भी उस का होता, जैसे यवा मेरी है, तब क्या वह भी मेरी कमज़ोरी में सुख पाता, क्या वह भी अपनी लपलपाती हुई जीभ से चाटा हुआ पानी

मुझे...पर उह ! मैं नहीं चाहता वह !

लेकिन साँप हँसता था और कहता था, मैं उसका हूँ। कहता था, जब तुम बने भी नहीं थे, तब से तुम मेरे ही थे, जब तुम नहीं रहोगे; तब भी तुम मेरे ही रहोगे। मेरी गुंजलक तुम को घरने वाली लकीर है। उस के बाहर कहीं भी तुम नहीं जाओगे, कहीं भी नहीं रह पाओगे।

मैं उसका हूँगा, जिस ने मुझे बनाया है और यह सब कुछ बनाया है। पर वह कौन है, मैं कैसे जानूँ...

❀ ❀ ❀

वह साँप तो कुछ भी नहीं मानता। उसकी हँसी एक भीषण अव-मानना की हँसी है। उसमें विश्वास नहीं है...वह कहता है मैं सब कुछ जानता हूँ; क्या जानना ही विश्वास छोड़ना है और क्या विश्वास छोड़ने से ही बड़ा और समर्थ बना जाता है ?

उस की किसी बात में विश्वास नहीं है। पर जब वह बात कहता है तो लगने लगता है, इस बात में विश्वास किया जा सकता है...

❀ ❀ ❀

जब से मैंने साँप का इशारा मान कर उसकी बतायी हुई दिशा में देखा है, तब से मेरा तन अभी तक थर-थर काँपता ही जा रहा है...

उसने कहा था, "तुम कहते हो, यवा मेरी है, इस लिए हम दोनों एक हैं। पर जो चीजें एक जैसी नहीं हैं, एक तरह नहीं बनी हैं, वह एक कैसे हैं ? तुम धोखे में हो, धोखे में।"

मैंने उस की बात नहीं सुनी थी। मैंने जवाब भी नहीं दिया था। मन ही में सोचा था, यह झूठ है। हम दोनों एक हैं, क्योंकि इतने बड़े उद्यान में एक यवा ही थी जिस को देख कर मैंने जाना था कि यह मेरे जैसी है, और जो सहसा ही मेरे पास आकर आयी ही रह गयी थी, भोजन खोजने भी नहीं गयी थी; जिस के लिए मुझे स्वयं ही भोजन लाने की और बैठने की जगह बनाने की इच्छा हुई थी...हम दोनों में कुछ भी भेद नहीं है, हम दोनों एक ही हैं, उद्यान में हमीं दोनों हैं जो एक

दूसरे को जानते हैं...साँप झूठा है ।

पर वह ठठा कर हँस पड़ा था और बोला था, "तुम यवा को नहीं जानते, नहीं जानते । तुम अपने को भी नहीं जानते । तुम नंगे हो, नंगे !"

वह शायद मेरा मौन तुड़वाना चाहता था; तभी तो जब मैंने उस की बात न समझ कर पूछा था, "नंगा क्या होता है ?" तब वह ठठा कर हँस पड़ा था और बोला था, "नंगे हो तुम ! नंगी है यवा ! तुम दोनों नंगे हो, तुम अलग हो, तुम दो हो !"

मैं तब भी नहीं समझा था, किन्तु तभी से न जाने क्यों मेरे शरीर में कँपकँपी शुरू हो गयी थी। और यवा को अपने पार्श्व में आया देख कर मैं आश्वस्त नहीं हुआ था, और उसकी तरफ़ देख कर जैसे सहसा मुझे लगा था, क्या यवा सचमुच और है ? अपनी देह देख कर तो मुझे ऐसा कुतूहल नहीं होता जैसा यवा की देह को देख कर होता है, तब क्या सचमुच वह देह मेरी देह से और है !

यवा ने कुछ समझ कर मेरा कन्धा पकड़ लिया था, और जैसे मेरे रोंगटे और भी काँप कर खड़ हो गये थे....और साँप ने फिर हँस कर कहा था, "यवा कहती थी, सब कुछ एक ही किसी ने बनाया है । तब तो सब कुछ एक है, है न ? तब हमें सर्वत्र एकता दीखनी चाहिए । पर देखो, तुम्हारे शरीर और और हैं—वे तुम्हारे बनाने वाले की एकता को झूठा बताते हैं ! जाओ उसे छिपाओ—और उसे, और उसे, और उसे !"

और उस की पलकहीन आँखें और लपलपाती दुहरी जीभ जैसे हमारी देहों को जगह-जगह छेदने लगी...

मैंने अपने ही कम्पन पर क्रुद्ध हो कर कहा, "यवा ने तुम से कहा, यवा ने ? तुम झूठे हो, यवा तुम्हारी ओर देखती भी नहीं !"

साँप कुछ शान्त होकर बोला, 'क्या कहा ?' और जैसे हमें भूल कर चक्कर पर चक्कर देता हुआ उस पेड़ पर लिपटने लगा । पेड़ का

तना छिप गया, फिर एक-एक कर के शाखें भी छिपती चलीं...

पता नहीं क्यों पेड़ का छिपते जाना मुझे अच्छा नहीं लगा। लगने लगा कि यह अनिष्ट है, पर जैसे मेरी आँख उस पर से हटी नहीं, और मेरी देह और भी काँपने लगी।

यवा ने मुझे खींचते हुए कहा, "चलो, यहाँ से चलो..."

एकाएक मुझे कुछ याद आया; मैंने यवा से पूछा, "यवा, क्या तूने सचमुच साँप से बात की थी ?"

यवा ने डर कर मुझे और भी जोर से खींचते हुए कहा, "चलो, आदम, चलो यहाँ से !"

हम लोग हट गये। दूर चले गये, जहाँ वह पेड़ और साँप की खड़े पानी-सी आँखें हमें न दीखें। पर मेरे शरीर का कम्पन बन्द नहीं हुआ, और मुझे लगता रहा कि शून्य हवा में से कहीं से साँप की आँख निरन्तर मुझे भेद रही है...

❀ ❀ ❀

जब झील में से नहा कर तपती रेत पर लेटे-लेटे हमें फिर भोजन की इच्छा हुई, और हम ने देखा कि आकाश का वह पीला फल फिर लाल हो चला है, तब एकाएक मुझे बहुत अच्छा लगने लगा। मन में हुआ, आज साँप की हर एक बात का मैं सामना कर सकता हूँ। मैं यवा का हाथ पकड़ कर उसे उसी पेड़ की ओर खींच ले चला जिस पर साँप लिपटा था।

मुझे डर नहीं लगा, मैं काँपा भी नहीं। राह में एकाएक मैंने पूछा, "यवा, तुमने सचमुच साँप से वह बात कही थी ?"

यवा ने जवाब नहीं दिया। फिर एकाएक चौंक कर बोली, "वह देखो, वह !"

मैंने देखा।

पेड़ सारा साँप की गुंजलक में छिप गया था। जैसे कीड़ा पत्ते को समूचा खा जाता है, वैसे ही साँप की गुंजलक ने भूतल से लेकर ऊपर तक

समूचे पेड़ को लील लिया था—तना, शाखा-प्रशाखाएँ, टहनी-फुनगी सब छिप गयी थीं—और स्वयं साँप भी गुंजलक के भीतर कहीं सिर छिपा कर सोया था—जैसे वहाँ न साँप था न पेड़, केवल एक गुँथी हुई विराट् गुंजलक—

और हाँ, उस गुंजलक के ऊपर, जैसे उसी से निर्भर, एक अकेला पका हुआ लाल फल...

यवा ने जोर से मुझे पकड़ लिया। मैंने एक हाथ से उसे सँभालते हुए जाना, वह काँप रही है, और उसके भीतर कुछ बड़े जोर से धक्-धक् कर रहा है।

मैंने हौसला दिलाने को कहा, "क्यों यवा, क्या है ?"

उत्तर में वह और भी ज़ोर से मेरे साथ चिपट गयी। मैंने फिर पूछा, "यवा, यवा, डरती हो ?"

उसने और भी चिपट कर कान के पास मुँह रख कर धीरे से कहा "साँप सोया है।"

मैं बोला, "तो फिर ?"

यवा फिर चुप हो गयी, मैंने देखा वह मेरे साथ अधिकाधिक चिप टती जा रही है, और उस के भीतर धक्-धक् द्रुततर होती जा कर जैसे मुझे भी भर रही है...मेरे रोएँ फिर खड़े होने लगे, पर डर से नहीं, डर से कदापि नहीं—किस से, यह मैं नहीं जानता !

मैंने कहा, "कहो यवा, क्या है ?"

वह फिर चुप रही। मैंने फिर उसकी काँपती देह-लता, सकुची हुई मुद्रा और लाल होते चेहरे को देखते हुए, दूसरा हाथ उस के माथे पर रखते हुए पूछा, "मेरी बीर बहूटी, बता, क्या चाहती है ?"

उस ने एक बार बड़े जोर से धक् से हो कर कहा, "वह फल मुझे ला दोगे ?" और मुँह छिपा लिया।

मुझे नहीं समझ आया कि क्या करूँ। न जाने कैसे मैंने एक हाथ से यवा को पकड़े ही पकड़े दूसरा हाथ बढ़ा कर वह फल तोड़ लिया—

शायद यवा के भीतर की वह धक्-धक् मुझे धकेल गयी।

एकाएक साँप हिला। यवा ने लपक कर उस फल में एक चाक दे मारा और शेष मेरे मुँह में ठूँस दिया—साँप ने ज़रा इधर-उधर सरक कर सिर बाहर को निकाला—और साँप का कुंठित कर देने वाला उन्मत्त अट्टहास सारे उद्यान में गूँज गया...

"जो मैं स्वयं तुम्हें दे रहा था, वह तुम ने मुझ से छिपा कर तोड़ खाया। छिपा कर, छिप कर, अलग होकर, तुम जो सब कुछ एक बताते हो, तुम मेरी झूठ-मूठ की नींद से धोखा खा गये! अब तुम्हारी देह के भीतर मेरा लाल फल है, और तुम्हारी देह को मेरी यह गुंजलक बाँधेगी—बाँधेगी तुम्हारी नंगी देह को जो—तुम नंगे हो, नंगे! नंगे!"

❀ ❀ ❀

क्या जिस समर्थ भाव से भर कर मैं वहाँ गया था वह भुलावा था? साँप ने हमें धोखा भी दिया तो भी मैं समर्थ हूँ। मैं अपनी यवा को ले कर उस उद्यान से बाहर चला आया हूँ। यहाँ केवल वीरान है, पेड़-फल-फूल नहीं हैं; लेकिन यहाँ साँप भी नहीं है। यहाँ केवल मैं हूँ और मेरी यवा है।

वहाँ की खुली हवा में बैठ कर यवा ने पूछा, "कैसा था फल?"

मैंने कहा, "यवा, सारी बात ऐसे हो गयी कि कुछ समझ में नहीं आया। तुम्हारी छाती के भीतर की धक्-धक् ने न जाने मुझे कैसा कर दिया था।"

एकाएक मैंने देखा कि यद्यपि यवा ने मेरी बात से सहसा संकुचित होकर दोनों हाथों से अपनी छाती ढाँप ली है, तथापि वह मेरी बात नहीं सुन रही है। उसकी आँखें मुझ पर नहीं जमी हैं, आकाश की तरफ़ देख रही हैं जिस का रंग कुछ गहरा हो गया है, नीचे की ओर जाते हुए और लाल होते हुए आकाश के मुँह को शायद पहचानने की कोशिश कर रही हैं...

मैंने फिर कहा, "यवा उस समय तुम ने मुझे क्या कर दिया था ? कैसे कँपा दिया था—"

यवा ने जैसे नहीं सुना। उसकी आँखें खुली थीं, पर वैसी ही दूर की कुछ बात देख रही थीं, जैसी कभी-कभी काली रात के अन्धेरे में सोते-सोते दीखा करती हैं...

मैंने फिर पूछा, "यवा, क्या देख रही हो ?" वह धीरे-धीरे बोली, "मैं सोच रही थी, साँप की गुंजलक में बँधे हुए पेड़ को कैसा लगता होगा. . .अगर वैसी गुंजलक मुझ पर लिपट जाय, मैं सारी जकड़ी जाऊँ, तो कैसा लगे ?" वह तनिक सा काँप गयी, फिर बोली, "अच्छा बताओ तो, अगर तुम उसी तरह बाँहों से मुझे बाँध कर छा लो और मेरे बाल पकड़ कर उनमें मुँह छिपा लो, तो कैसा लगे, बताओ तो ?" और वह काँपती-सी झूठ-मूठ की-सी हँसी हँस दी, मैंने सहम कर कहा, "दुर!"

और वह हाथ और बाँहों से मुँह और छाती ढँक कर, सिमट कर मेरी ही आड़ में हो ली और मेरी जाँघ पर अपने लम्बे बाल फैला कर सो गयी।

और वह सोयी है। दिन लाल हो रहा है। शीघ्र ही वह काला पड़ जायगा, रात आ जायगी, सब कुछ छिप जायगा, हम भी छिप जायेंगे। दो नहीं रहेंगे, अलग नहीं रहेंगे, बिना आड़ के भी अलग नहीं रहेंगे—मैं यवा के पास आऊँगा, बहुत पास, बहुत पास, बहुत पास, उस से एक ..और वहाँ कुछ नहीं होगा, साँप भी नहीं होगा, बनाने वाला भी नहीं होगा, हम भी इस मरुभूमि में होंगे और हम एक होंगे...

[२]

यह क्या हो गया है ?

उस समय साँप नहीं देख रहा था, वह साँप जो सब कुछ जानता था; तब जो साँप का और हमारा बनाने वाला है वह भी नहीं देख रहा होगा; और अँधेरे में हम भी एक दूसरे को नहीं देख सकते थे, यवा और मेरे बीच के भेद को नहीं देख सकते थे; तब छिपना हम किस से चाहते थे ?

यवा मेरी जाँघ पर सिर रखे लेटी थी, मैं कोहनी टेके अध-लेटी मुद्रा में था। हम दोनों सोना चाहते थे, पर शरीर नहीं मानता था। न जाने हम दोनों के भीतर क्या खूब जागरूक होकर धक्-धक् कर रहा था। और उसके दबाव से शरीर भी जैसे टूटते से थे, थकित-चकित-क्लान्त से होते थे पर फिर भी ढीलना नहीं चाहते थे, तने ही तने रहना चाहते थे, अशान्त, अश्लथ, खण्डित, असंकुचित, अपरावृत. . .और इस न समझे हुए, न चाहे हुए दबाव के नीचे में बहुत अकेला, बहुत ही छोटा और दयनीय-सा अपने को जान रहा था...

बहुत ही दयनीय, बहुत ही छोटा, बहुत ही अकेला. . .यवा मेरी जाँघ पर चुपचाप पड़ी थी, पर न जाने कैसे मैं अनुभव कर रहा था, उस रात की निविड, निरालोक, स्तब्धता में मेरे साथ घनिष्ट हो कर भी वह जैसे अकेली अनुभव कर रही है, हम दोनों बिना बताये अलग-अलग अपने को तुच्छ और अकेले समझते हुए कहीं छिप जाना चाहते है, समा जाना चाहते हैं—एक दूसरे की आँखों से नहीं, एक दूसरे से, तो सट कर किन्तु अन्य न जाने किस की आँखों से...

जैसे किसी अनदीखते साँप की अनदीखती, अस्पृश्य गुंजलक में हम दोनों बद्ध हों, और—

और मेरे मन में रह-रह कर यवा की काँपती हुई हँसी से कही हुई बात गूंज जाती थी, "अगर वैसी गुंजलक मुझ पर लिपट जाय, मैं सारी जकड़ी जाऊँ, तो कैसा लगे? अच्छा बताओ तो, अगर तुम उसी तरह बाँहों से मुझे बाँधकर छा लो और मेरे बाल पकड़ कर उनमें मुँह छिपा लो, तो कैसा लगे बताओ तो?..."

कैसा लगे, बताओ तो. . .न जाने कैसा लगे, यवा, न जाने कैसा लगे. . .पर मैं तो बड़ा दयनीय, बहुत छोटा, बहुत अकेला हूँ और मै छिप जाना चाहता हूँ न जाने किस की आँखों से—मुझे अच्छा नहीं लगता...

मेरा शरीर सिहर कर तनिक-सा काँप गया। यवा ने चौंक कर

आधी उठ कर भर्राये से स्वर में कहा, "कैसा लगता है, आदम, बताओ तो ?"

मेरे मन में हुआ, यवा, इस मरुभूमि में न बनस्पति है न साँप है न फल, शायद इन सब का बनानें वाला इस मरुभूमि में नहीं है; यहाँ हैं केवल तुम और मैं और हमारा अकेलापन—और मैंनें विवश-भाव से यवा को पास खींच कर घेरते हुए कहा, "तुम्हीं जानो, यवा, कैसा लगेगा, मैं तुम्हें बाँधे लेता हूँ इस गुंजलक में—"और यवा ने जैसे बिजली की तरह कौंध कर सिमटते-सिमटते कहा, "हाँ बाँध लो मुझे, छा लो, पेड़ की एक फुनगी तक न दीखे, केवल फल, केवल फल. . ."

और तब मेरे भीतर धक्-धक् करनें वाला वह 'कुछ' चीत्कार कर उठा, क्यों मैं दयनीय हूँ, क्यों मैं छोटा हूँ, क्यों मैं अकेला हूँ. . .इस मरुभूमि में और कोई नहीं है, मैं ही गुंजलक, हूँ मैं ही साँप हूँ, मैं ही फल हूँ...और क्यों नहीं हूँ मैं ही वह बनानें वाला हूँ जिस का नाम हम नहीं जानते—मैं !

और यवा के भीतर का धक्-धक् ताल देता हुआ बोला—"और मैं!" और एक लहर-सी मेरे ऊपर आयी,डुबा देने वाली, घोंट देने वाली, तहस-नहस करने वाली, यह आकाश का जलता हुआ लाल फल और अन्य अनगिनत फल—जो कुछ मैं देखता और जानता हूँ सब कुछ जैसे मुझे रौंदता हुआ और सींचता हुआ चला गया और यवा को बाँधे-छिपाये हुए मुझे लगा कि मैं ही बनाने वाला हूँ—

और तब—

नहीं, यवा, नहीं ! हम नंगे है ! नंगे हैं ! और मैंने सहसा परे हट कर अपना मुँह ज़मीन में छिपा लिया, जी होने लगा कि समूची देह उसी में धँस जाय। और यवा भी मुँह फेर कर धीरे-धीरे रोनें लगी. . .

[३]

यह जो मेरे भीतर और यवा के भीतर निरन्तर धक्-धक् किया करता है, क्या यही उस बनाने वाले के पैर की प्रतिकृति वह खोखल

नहीं है जिससे कन्दरा का बनाने वाला पहचाना जाता है ? साँप के आगे मेरी हार हुई है, लेकिन मैं जानता हूँ कि साँप ने झूठ कहा था; मैं जानता हूँ कि बनाने वाला एक है और निश्चय है ..उस की छाप भी मेरे भीतर है और यवा के भीतर, और निस्सन्देह उस अनिष्ट साँप के भीतर...

लेकिन यह यवा में क्या नयी बात प्रकट हुई है ? मेरे और यवा के, बनाने वाले के और उस के प्रतिस्पर्धी साँप के बीच यह एक नया डर और नया आग्रह कैसा देखता हूँ, जो यवा की आँखों में काँपा करता है ?

❀ ❀ ❀

यवा, सच बताओ, मेरे और तुम्हारे, साँप के और सब के नियन्ता के बीच यह चीज़ क्या है जिसे तुम जानती हो और हम नहीं ? बताओ, तुम्हारा यह डर और चिन्तित उत्कंठा कैसी है ? किस के लिए तुम कोमलता से भरा करती हो, किस के लिए तुम मुझे भूल-सी जाती हो, पहचानती नहीं हो, किस के लिए तुम्हारी आँखें सर्दी की बरसात के बाद की-सी धुन्ध मे भर कर तैरने-सी लगती है ? बताओ मुझे, तुम्हें क्या हो गया है...

क्या मैंने तुम्हें क्लेश दिया है ? पीड़ा पहुँचायी है ? लेकिन क्या वैसा मैंने चाहा है ? इस अनिष्टकर साँप की देखादेखी मैंने तुम्हें गुंजलक में बाँधना चाहा था अवश्य, और उस से हम दोनों स्तम्भित हुए थे अवश्य, पर वह तो तुम्हीं ने जानना चाहा था, और फिर तब तो तुम ऐसी बदली भी नहीं थीं...

यवा, बताओ मुझे वह अन्य कौन है...

❀ ❀ ❀

मैं जैसे बदल रहा हूँ। कुछ और ही होता जा रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि क्या बदल रहा है, पर कुछ फ़र्क हो गया है ज़रूर। पहले की तरह भागना-दौड़ना और यवा के साथ ऊधम करना अब उतना नहीं

सुहाता, और यवा में भी जैसे उस का उतना आग्रह नहीं है। अब मुझे यही अच्छा लगता है कि यवा के आसपास कहीं निकट ही रहूँ, भूख होने के समय यवा को लेकर घूमने के बजाय वहीं पर खाने को फल-फूल ले आऊँ, यवा के लिए एक बड़ी-सी कन्दरा बना दूँ और उसके आसपास फल के पौधे लगा दूँ जिस से दूर जाना ही न पड़े. . .'' और यवा भी मानो यही चाहती है, जैसे कन्दरा के बनने में उस का मुझ से भी अधिक आग्रह है—वह उस के भीतर बैठ कर दिन में रात के सपने देखना चाहती है .

वही तो शायद सर्दी की धुन्ध की तरह उस की आँखों में छाया और जाया करते हैं, जमा और घुला करते हैं. . . .पर क्या चीज़ है वह जिस की माँग उस धुन्ध के पीछे यवा की आँखों में झलक जाया करती है, कौन है वह मेरे अतिरिक्त जिसकी चाह यवा करती जान पड़ती है...

अक्सर बादल छाये रहते हैं, कभी कभी-पानी भी बरसा करता है। यवा अनमनी-सी कन्दरा में पड़ी रहती है, और मैं अनमना-सा आकाश की ओर देखा करता हूँ। कभी बादल घने होकर काले पड़ जाते हैं, कभी छितराकर उजले हो जाते हैं, और थोड़ी-सी धूप भी चमक जाती है। समझ नहीं आता कि मेरे इस अपने दो जनों के उद्यान पर क्या बदली छा गयी है जो हम ऐसे हो गये हैं। यवा मुझे अब भी उतनी ही अच्छी और अपनी लगती है; वह भी शान्त विश्वास से आकर मेरे द्वारा सहलाय जाने के लिए अपनी ग्रीवा झुका कर बैठ जाया करती है; फिर भी जैसे उस की आँखों की उस धुन्ध में अस्पष्ट-सा दीख पड़ने वाला आकार हर समय हमारे बीच में बना रहता है...

और कभी यवा एकाएक थकी और खिन्न हो जाती है, कभी उस का जी कैसा होने लगता है, कभी उस के पीड़ा होन लगती है ..मुझे समझ नहीं आता कि मैं कैसे क्या करूँ कि वह फिर पहले जैसी हो जाय...मुझे कुछ भी समझ नहीं आता, कुछ भी अच्छा नहीं लगता...

❀ ❀ ❀

ओ तू—मेरे और यवा के बनाने वाले, मुझ बता कि क्या करूँ, यवा को कैसे सान्त्वना दूँ, कैसे शान्ति पहुँचाऊँ...मुझे बता, कैसे उसका दर्द दूर हो, कैसे वह उठे, कैसे वह मुझे जाने...

यवा भीतर बैठी है और रो रही है। मैं उसे बाहर लाना चाहता हूँ, धूप में बिठाना चाहता हूँ, कोई बूटी खिलाना चाहता हूँ जिस से उसे कुछ चैन हो, पर वह निकलती नहीं, उसे कन्दरा का अँधेरा और एकान्त ही पसन्द है, वहीं की गीली मिट्टी कुरेद कर कभी-कभी वह खा लेती है, यही उसे अच्छा लगता है...मुझ से सहा नहीं जाता यह, मेरा जी न जाने कैसा होता है, पर वह मेरा पास रहना भी नहीं सह सकती, वह मुझे अपने से दूर रखना चाहती है, वह कन्दरा के अन्धकार में मेरी भी दृष्टि से छिपना चाहती है—बल्कि मेरी ही दृष्टि से...

उफ—कुछ समझ नहीं आता...

ओ तू मेरे और यवा के बनाने वाले, मुझे बता कि मैं क्या करूँ... यहाँ बाहर बेबस और अकेला बैठ कर बादल के टुकड़े गिनने से तो कुछ नहीं होगा; बता कि उस के अकेलेपन में और उस वेदना में मैं कैसे काम आऊँ....

❀ ❀ ❀

अँधेरे में शायद मैं सो गया था।

एकाएक एक बड़ी भेदक चीख सुन कर मैं उठ कर भीतर कन्दरा में दौड़ने को हुआ; किन्तु क्या यह चीख यवा की थी? वैसी चीख तो मैंने यवा के मुँह से कभी नहीं सुनी थी...क्षण ही भर बाद वह फिर आयी—नहीं यह यवा की नहीं हो सकती...एक बार और—हाँ, यह यवा की ही पुकार है शायद—

यवा ने सहसा धीमे, दर्द-भरे स्वर में पुकारा, "आदम!" मैं दौड़ कर भीतर गया और स्तम्भित खड़ा रह गया। यवा ने सिमट कर मुँह फेरते हुए सकुचाये से स्वर में कहा, "आदम, यह क्या हो गया है..."

मैं समझा नहीं, लेकिन एकाएक मैं जान गया, साँप झूठा है, झूठा है, झूठा है, मेरे भीतर धक्-धक् करने वाली शक्ति ही सच है, बनाने वाली है; और एकाएक मैं इस सब कुछ के बनाने वाले का नाम भी जान गया जो साँप कहता था कोई जान ही नहीं सकता क्योंकि वह है नहीं—सृष्टा ! मैंने जान लिया है कि मैं ही सृष्टा हूँ... और मैंने पुकार कर कहा, "यवा, ठहरो, मैं जान गया हूँ कि सृष्टा को छिपा कर ही जिया जा सकता है, सब से छिप कर ही उस से मिलना सम्भव है..."

मैं एकाएक बाहर दौड़ गया, अँधेरे में ही मैंने सेमल का पेड़ खोज कर उस के ढेर-से फूल तोड़ कर एक लता की छाल में गूँथ कर बाँध लिये; लौटकर वह आवरण यवा के और उस की छाती पर चिपट कर पड़े हुए मेरे प्रतिरूप एक अत्यन्त छोटे से आदम के ऊपर ओढ़ा दिया।

यवा ने सिहर कर कहा, "हाँ, मेरे आदम, इसी तरह गुंजलक से मुझे बाँध दो, छा लो समूचे पेड़ को, कि कुछ भी न दीखे—एक फुनगी तक नहीं। केवल फल—केवल फल...."

और छाती से मेरी सृष्टि को चिपटाये हुए और सब तरफ़ से आवृत यवा की हँसी से चमक गये दाँत देख कर मैंने सदा के लिए जान लिया कि साँप झूठा है; कि सृष्टा है, कि एकता है...

वसन्त

मधुर कंठ वाली एक स्त्री, जो गाती हुई प्रवेश करती है। उसका स्वर आज की सिनेमा आर्टिस्ट का सधा-बँधा स्वर नहीं है, जो 'प्रीफेब' सिमेंट की चौरस सिल्ली की तरह तना-खिंचा मगर बिल्कुल ठस होता है, यानी जो होता है उस से अधिक कुछ नहीं होता—सब कुछ सामने है और जो सामने नहीं है वह हुई नहीं—बल्कि सामने भी क्या है ? एक ठप्पे की छाप। उसका स्वर बिल्लौर की तरह पारदर्शी है, जिसके भीतर रंगीन कहानियाँ दीखती हैं, आगे और पीछे की कहानियाँ, उजली और फीकी छायाएँ, और सब पारदर्शी...जैसे चन्द्र-कान्त मणि के अन्दर चाँदनी दूधिया ओस-सी जम गयी हो।

पहला वसन्त, जिसका स्वर एक हँसते युवक का स्वर है, जो जब बोलता है तो साथ-साथ कई बाँसुरियाँ बज उठती हैं, बड़ी द्रुत लय से, मानो उनका पलातक संगीत पकड़ में तो आने का नहीं, उसके पीछे दौड़ना भी व्यर्थ है, हाँ, कोई अपनी भावनाएँ भी उसके साथ-साथ छोड़ दे तो छोड़ दे।

दूसरा वसन्त, जैसे अनुभवों की दोहर ओढ़े भारी पैरों से चलने वाला, भारी गले से बोलने वाला अग्रज, उस का धीमा गुरु स्वर मानो इसराज का मन्द्र एकस्वर है, और प्रत्येक शब्द को तोल-तोल कर, श्रोता की आत्मा में उसे बैठा देता हुआ-सा बोलता है।

स्त्री गाती है।

"फूल कांचनार के
प्रतीक मेरे प्यार के
प्रार्थना-सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली
पत्तियों का सम्पुट, निवेदिता ज्यों अंजली
आये फिर दिन मनुहार के, दुलारे के...

फूल कांचनार के।"

तब बाँसुरी का तीखा स्वर द्रुत लय पर दौड़ता हुआ आता है और तुरन्त ही खो जाता है।

स्त्री : "अरे कौन ?"

पहला वसन्त : "मैं वसन्त।" फिर बाँसुरी का स्वर।

स्त्री : "कौन वसन्त ?"

वसन्त १ : "यह भी बताना होगा ? सुनो..."

फिर द्रुत लय पर बाँसुरी जिस से प्राण ललक उठें, लेकिन सुनते-सुनते उस का स्वर खो जाता है।

वसन्त १ : "सुना ? अब पहचानती हो ?"

स्त्री : "अम्-म्-म्..."

वसन्त १ : "मैं वह हूँ जो मलय समीर के हर झोंके में आ कर तुम्हारी अलकों को सहला जाता है। सरसों के फूल में मेरा ही रंग खिलता है, आम्र-मंजरी में मेरा ही आह्लाद उमँगता है। मैं कोयल के स्वर से तुम्हें—तुम्हें क्यों, प्राणिमात्र को—पुकारता हूँ कि देखो, अब समय बदल गया। दिन भी अपनी निरन्तर सिकुड़न छोड़कर साहसपूर्वक बढ़ने लगा। जिस सूर्य से जीवमात्र और सब वनस्पतियाँ शक्ति पाती हैं, वह स्वयं इतने दिनों की निस्तेज क्लान्ति के बाद फिर दीप्त होने लगा। केवल बाहर ही नहीं, तुम्हारे शरीर की शिरा-शिरा में, तुम्हारे अंगों के स्फुरण में, तुम्हारे मन के उत्साह में मेरा स्वर बोलता है..."

फिर वही बाँसुरी का स्वर, मानो निहोरे करता हुआ, वैसी ही पहले वसन्त की आवाज़, मानो उस की मनुहार सुननी ही पड़ेगी, उस से कोई बच कर निकल जायगा तो कैसे। धीरे-धीरे, प्राणों को आविष्ट करता हुआ सा, वह गाता है :

"सुनो सखी, सुनो बन्धु !
प्यार ही में यौवन है, यौवन में प्यार।
जागो, जागो,

जागो सखि वसन्त आ गया !"

और स्त्री भी विवश साथ-साथ गुनगुनाने लगती है :

"वसन्त आ गया—

आज डाल-डाल पै आनन्द छा गया..."

तब, पीछे कहीं, धीरे-धीरे इसराज मन्द्र बज उठता है, पहले बहुत धीरे, फिर क्रमशः स्पष्ट, मानो उसे अब अपनी बात पर विश्वास हो आया हो...इतना कि अब वह हर किसी को अपनी बात मनवा कर ही छोड़ेगा। स्त्री सहसा चौंक पड़ती है।

स्त्री : "कौन ?"

दूसरा वसन्त : "मैं वसन्त।"

स्त्री : "वसन्त तुम ? वसन्त तो मेरे साथ गा रहा है। सुनो सखी, सुनो बन्धु...."

वसन्त २ : "हाँ, ठीक तो है, सुनो सखी, सुनो बन्धु ! वसन्त ज़रूर आ गया। तुम पूछती हो, कौन वसन्त ? क्या तुमने लक्ष्य नहीं किया कि सबेरा जल्दी होने लगा, तुम्हें काम जल्दी आरम्भ करना पड़ता है ? क्या तुमने नहीं देखा कि पिछली बरसात में वनस्पतियों ने जो हरी चादर ओढ़ ली थी, शरद् ने जिसमें शेफाली की बूटियाँ काढ़ी थीं, जो जाड़ों में हरे रेशमी वसन से बदल कर लाल और भूरा दुशाला बन गयी थी, वही आज जीर्ण-शीर्ण हो कर, तार-तार होकर झर रही है ? वह पतझड़ मैं हूँ। जो सनसनाती हुई ठंडी हवा वनस्पतियों के सब आवरण उड़ाये ले जा रही है, वह मैं हूँ। सबेरे-सबेरे झाड़ू की मार से उड़ी हुई धूल मैं हूँ। धूल का झक्कड़ मैं हूँ। सुबह की धुन्ध मैं हूँ। शाम को क्षितिज पर जमा हुआ धुआँ मैं हूँ। बाहर ही नहीं, मैं भीतर की हताशा हूँ कि 'एक वर्ष और गुजर गया'! मै आतंक हूँ आने वाले ग्रीष्म की सनसनाती हुई लू के फूत्कारों से उड़ती हुई गर्म रेत का..."

स्त्री : "ओह ! ओह !"

द्रुत लय पर बाँसुरी और विलम्बित पर इसराज बारी-बारी से बजने लगते हैं। एक स्वर उभरता है और डूबता है, फिर दूसरा उभरता है और पहला डूब जाता है। ये स्वर हैं, या कि भावों की धूप-छाँह ही स्त्री के मुँह पर खेल कर रही है?

वसन्त १ : "मैं तुम्हारे जीवन का स्वप्न हूँ। मैं तुम्हारा भविष्य, भविष्य की आशा हूँ।"

वसन्त २ : "मैं भी तुम्हारे जीवन का स्वप्न हूँ। मैं तुम्हारा अतीत हूँ और अतीत का अनुभव। क्या आने वाले कल की आशा ही स्वप्न होती है, क्या जो आशाएँ बीत गयी हैं वे स्वप्न नहीं है?"

वसन्त १ : "मैं वह हूँ जो तुम हो सकती थीं—"

वसन्त २ : "मैं वह हूँ जो तुम हो।"

वसन्त १ : "मैं वह हूँ जो तुम हो सकती हो..."

वसन्त २ : "थीं भी, और होगी भी, तो फिर आज क्यों नहीं हो? (तिरस्कारपूर्वक) 'सुनो सखी, सुनो बन्धु!' अगर बहरा होना ही सुनना है, तो ज़रूर सुनो!"

फिर इसराज और बाँसुरी, विलम्बित और द्रुत; कौन पहचाने कि कौन स्वर उभरता है और कौन डूबता; क्योंकि फीकी धूप ही हल्की छाँह है, और फीकी छाँह ही नयी चमक, और...धीरे-धीरे दोनों ही लीन हो जाते हैं, मानो अस्तित्व के उस तल पर से अब उतर आना होगा जिस पर वसन्त—पहला और दूसरा वसन्त—मूर्त्त होकर, वाणी-युक्त होकर सामने आते हैं। इस निचले स्तर पर तो वसन्तों के संगीत-मय सुर नहीं, बरतनों की खनखनाहट है...नये मँजते और धुलते हुए बरतन, धो कर ताक में रखे जाते हुए बरतन। यह दूसरा ही दृश्य है, और स्त्री की बात मानो स्वगत भाषण है।

स्त्री : "मैं वह हूँ जो तू है। मैं वह हूँ जो तू हो सकती है—मैं वह हूँ जो तू थी। मैं वह हूँ जो तू होगी—लेकिन मैं क्या थी—क्या हूँगी... क्या हूँ? शायद उसे नहीं सोचना चाहिये। नहीं तो इतने वर्षों से इसी

एक प्रश्न का उत्तर देना क्यों टालती आयी हूँ ? क्या थी—फूल, या मिट्टी ? क्या हूँगी—मिट्टी, या फूल ? एक बार—एक बार सोचा था... लेकिन क्या सचमुच सोचा था ? इतनी पुरानी बात लगती है कि सन्देह होता है...लेकिन जल्दी करूँ, पानी चला जायगा।"

और ठीक उसी समय स्त्री का पति प्रवेश करता है। पति जैसा ही उसका स्वर है; साधारण, न रूखा न मीठा; जिसमें कुछ अपनापा भी है, कुछ उदासीनता भी; लेकिन क्या अपनापा और उदासीनता प्यार के परिचय के ही दो पहलू नहीं हैं ?

पति : "मालती।"

स्त्री : "जी।"

पति : (चिढ़ाता हुआ) "अगर मैं बाहर ही खड़ा रहता, तो सोचता कि न जाने कौन तुम से बातें कर रहा है। यह क्या पता था कि आप जूठ बरतनों से भी बातें कर सकती हैं।"

स्त्री : "नहीं...हाँ..."

पति : "यानी इतनी तन्मय होकर बात कर रही थीं कि तुम्हें मालूम ही नहीं ? कौन था आखिर वह मन-मोहन सुध-बिसरावन... कौन आया था ?"

स्त्री : (अनमनी सी) "वसन्त।"

पति : (न समझते हुए) "कौन वसन्त ?"

स्त्री : "यह तो मैं नहीं जानती ? (धीरे-धीरे) वह कहता था, मैं मलय समीर में रहता हूँ और कोयल के स्वर से पुकारता हूँ। कहता था, वह सरसों के फूल के रंग म है। (कुछ रुक कर, और भी अनमनी, खोई सी) नहीं, वह कहता था, मैं पतझड़ हूँ। और धूल का झक्कड़। और निराशा।"

पति : "मालती, मालूम होता है तुम बहुत थक गयी हो। क्या करूँ, सोचता तो बहुत दिनों से हूँ कि कुछ छुट्टी लेकर घूम आयें, लेकिन मौका ही नहीं बनता। न छुट्टी ही मिलती है, न कोई सहूलियत—"

स्त्री : (सहानुभूति से तिलमिला कर) "रहने भी दो, मुझे क्या करनी है छुट्टी ? थकते तो मर्द हैं, स्त्री कभी नहीं थकती है। काम और विश्राम—यह मर्द की ईजाद है। स्त्रियाँ विश्राम नहीं करतीं, क्योंकि वे शायद काम नहीं करतीं। वे कुछ करती ही नहीं...वे शायद सिर्फ़ होती ही हैं। बालिका से किशोरी, कुमारी से पत्नी, बेटी से माँ, एक निस्संग आत्मा से परिगृहीत कुनबा—वे निरन्तर कुछ-न-कुछ होती ही चलती ह। क्योंकि वे हैं कुछ नहीं, वे केवल होते चलने का, बनने में नष्ट होते चलने का, या कि कह लो नष्ट होते रहने में बनने का, दूसरा नाम हैं। वे भविष्य हैं जो कि पीछे छट गया, एक अतीत हैं जो कि आगे मुँह बाये बैठा है..."

पति : (कुछ त्रस्त स्वर में) "मालती, क्या तुम सुखी नहीं हो ? (पीड़ित-सा) लेकिन शायद मेरा यह पूछना भी अन्याय है। मैं तुम्हें कुछ दे ही तो नहीं सका। यह तो नहीं कि मैंने चाहा नहीं। लेकिन चाहना ही तो काफ़ी नहीं है, सकत भी तो चाहिए। (सहसा नये विचार के उत्साह से) चलो, कहीं घूम आयें—या चलो सिनेमा चलें—"

स्त्री : "उंहुक्। सिनेमा में मेरा दम घुटता है।"

पति : "तो चलो, कहीं बाग में चलगे। या बाहर खेतों की तरफ़। आजकल नदी की कछार पर सरसों खूब फूल रहीं है। बीच-बीच में कहीं अलसी के नीले फूल—"

नेपथ्य में कहीं धीरे-धीरे वही बाँसुरी बजने लगती है। मानो स्मृति को जगाती हुई, मानो पुरानी बात दुहराती हुई।

स्त्री : (मानो स्वगत) "वह कहता था, सरसों के फूल में मेरा ही रंग खिलता है। और आम के बौर में . . ."

पति : "क्या गुनगुना रही हो, मालती ? तुम्हें याद है, उस बार जब मैं . . ."

स्त्री : "कब ?"

पति : "बनो मत। उस बार जब गौने के बाद तुम आयी ही थीं,

और मैंने कहा था कि..."

स्त्री : (मानो स्तब्ध-सी और न पसीजती हुई) मुझे कुछ याद नहीं है। मैं तो सोचती हूँ, यह याद भी मर्दों की ईजाद है। उनके लिए भूलना इतना सहज सत्य जो है।"

एक बालक. . .उनका बालक. . .उसका बालक। बालकों के स्वर का वर्णन हो भी सकता हो तो नहीं करना चाहिए, उसमें जो अकल्पित सम्भावनाएँ मचलती हैं, उन्हें बाँध देने का यत्न क्यों किया जाय ? वह निकट आ रहा है. . .और वे सम्भावनाएँ मानो एक झलक-सी दे जाती हैं...

बालक : "माँ—माँ !"

पति : "यह लो आ गया ऊधमी ! अच्छा, तो तुम जल्दी से उठो, मैं अभी-अभी तैयार हो जाता हूँ—हाँ ?"

बालक : "माँ—माँ !"

स्त्री : "क्या है, बेटा ?"

बालक : "माँ, सब लड़के कह रहे हैं कि आज वसन्त है, आज पतंग उड़ाने का नियम है।"

स्त्री : "हुँः नियम है। पतंग नहीं उड़ाया करते अच्छे लड़के।"

बालक : "क्यों, माँ ? मुझे तो पतंग बहुत अच्छी लगती है. . ."

स्त्री : "न ! उड़ जाने वाली चीज़ों को प्यार नहीं करना चाहिए। छोड़ कर चली जाती हैं तो दुःख होता है।"

बालक : "वह उड़ थोड़े ही जायगी ? मैं फिर उतार लूँगा—मेरे पास ही तो रहेगी. . ."

स्त्री : "मैं पतंग होती तो उड़ जाती, दूर—दूर। फिर कभी वापस न आती।"

बालक : (आहत) "हमें छोड़ जातीं माँ ?"

स्त्री : "तो क्या हुआ ? तुम तो अपनी पतंग में मस्त रहते, तुम्हें ध्यान ही न आता।"

बालक : "नहीं माँ, मुझे तो तुम बहुत अच्छी लगती हो। मुझे नहीं चाहिए पतंग-बतंग, मैं तुम्हारे पास बैठूँगा—"

स्त्री : "अरे, छोड़ मुझे. . .दंगा न कर। जा, पिताजी के साथ जाकर बगीचा देख आ।"

बालक : "वहाँ क्या है ?"

स्त्री : (जैसे याद करती हुई) "है क्या ? वहाँ सुन्दर फूल हँसते हैं. . .वहाँ कोयल कूकती है. . .वही तो बसन्त है।"

बालक : (मान-भरा) हमें नहीं चाहिए वहाँ का वसन्त। हमारा वसन्त तो तुम हो, माँ. . .तुम हँसती क्यों नहीं ? अरे, तुम तो उदास हो गयीं. . ."

स्त्री : (सोचती हुई) "यह तो उन दोनों ने नहीं कहा था. . .वह कहता था मैं आशा हूँ, वसन्त मैं हूँ। वह कहता था, मैं अनुभव हूँ, वसन्त मैं हूँ। मुझे तो किसी नहीं कहा कि वसन्त तुम हो...फूलों का खिलना भी और पतझड़ भी, समीर भी और धूल का झक्कड़ भी . ."

बालक : "माँ—किसने कहा था, माँ ?"

स्त्री : "किसी ने नहीं, बेटा, मेरी चेतना ने। तू तो केवल पतंग का वसन्त जानता है, मगर मुझ में बहुत से वसन्त है, कुछ मीठे, कुछ फीके, कुछ हँसते, कुछ उदास।"

बालक : "उन सब में सब से अच्छा कौन सा है, माँ ?"

स्त्री : (सहसा सुस्थ होकर) "सब से अच्छा वसन्त तू है, बेटा। तू हँसता रह, बस, फूल-फल. . ."

और अब नेपथ्य में बाँसुरी क्रमशः स्पष्ट होने लगती है। मानो अब वह स्पष्ट हो जायगी तो फिर मन्द नहीं पड़ेगी, फिर बजती ही रहेगी, उसमें नया धीरज जो आ गया है।

बालक : "वाह। मैं कोई पौधा हूँ. . ."

स्त्री : "हाँ, यह तू क्या जाने। तू मेरी सारी आशाओं का, सारे अनुभव का पौधा है, मेरा युगों-युगों का वसन्त।"

बाँसुरी बिल्कुल स्पष्ट बजने लगती है, अपने आत्म-विश्वास से वातावरण को गुँजाती हुई, उसके प्राणों में अपने स्वर को बसा देती हुई। और बाँसुरी के साथ-साथ गान के शब्द भी स्पष्ट होने लगते हैं।

"किंशुकों की आरती सजा के बन गयी वधू वनस्थली।

डाल-डाल रंग छा गया।

जागो, जागो

जागो सखि वसन्त आ गया!"

हीली-बोन् की बतखें

हीली-बोन् ने बुहारी देने का ब्रुश पिछवाड़े के बरामदे के जंगले से टेक कर रखा और पीठ सीधी कर के खड़ी हो गयी। उसकी थकी-थकी-सी आँखें पिछवाड़े के गीली लाल मिट्टी के काई-ढके किन्तु साफ़ फ़र्श पर टिक गयीं। काई जैसे लाल मिट्टी को दीखने देकर भी एक चिकनी झिल्ली से उसे छाये हुए थी; वैसे ही हीली-बोन् की आँखों पर भी कुछ छा गया जिस के पीछे आँगन के चारों ओर तरतीब से सजे हुए जरेनियम के गमलों, दो रंगीन बेत की कुर्सियों और रस्सी पर टँगे हुए तीन-चार धुले हुए कपड़ों की प्रतिच्छवि रह कर भी न रही। और कोई और गहरे देखता तो अनुभव करता कि सहसा उस के मन पर भी कुछ शिथिल और तन्द्रामय छा गया है, जिस से उस की इन्द्रियों की ग्रहणशीलता तो ज्यों की त्यों रही है पर गृहीत छाप को मन तक पहुचाने और मन को उद्वेलित करने की प्रणालियाँ रुद्ध हो गयी हैं...

किन्तु हठात् वह चेहरे का चिकना बुझा हुआ भाव खुरदुरा हो कर तन आया; इन्द्रियाँ सजग हुईं, दृष्टि और चेतना केन्द्रित, प्रेरणा प्रबल—हीली-बोन् के मुँह से एक हल्की-सी चीख निकली और वह बरामदे से दौड़ कर आँगन पार करके एक ओर बने हुए छोटे-से बाड़े पर पहुँची; वहाँ उसने बाड़ का किवाड़ खोला और फिर ठिठक गयी। एक ओर हल्की-सी चीख उसके मुँह से निकल रही थी, पर वह अध-बीच में ही रव-हीन हो कर एक सिसकती-सी लम्बी साँस बन गयी।

पिछवाड़े से कुछ ऊपर की तरफ़ पहाड़ी रास्ता था; उस पर चढ़ते हुए व्यक्ति ने वह अनोखी चीख सुनी और रुक गया। मुड़ कर उस ने हीली-बोन् की ओर देखा, कुछ झिझका, फिर ज़रा बढ़ कर बाड़े के बीच के छोटे-से बाँस के फाटक को ठेलता हुआ भीतर आया और विनीत भाव से बोला, "खू-ब्लाई!"

हीली-बोन् चौंकी। 'खू-ब्लाई' खासिया भाषा का 'राम-राम' है, किन्तु यह उच्चारण परदेसी है और स्वर अपरिचित—यह व्यक्ति कौन है ? फिर भी खासिया जाति के सुलभ आत्म-विश्वास के साथ तुरन्त सँभल कर और मुस्करा कर उसने उत्तर दिया, "खू-ब्लाई !" और क्षण-भर रुक कर फिर कुछ प्रश्न-सूचक स्वर में कहा, "आइये ? आइये ?"

आगन्तुक ने पूछा, "मैं आप की कुछ मदद कर सकता हूँ ? अभी चलते-चलते—शायद कुछ—"

"नहीं, वह कुछ नहीं"—कहते-कहते हीली का चेहरा फिर उदास हो आया। "अच्छा, आइये, देखिये।"

बाड़े की एक ओर आठ-दस बत्तखें थीं। बीचोबीच फ़र्श रक्त से स्याह हो रहा था और आस-पास बहुत-से पंख बिखर रहे थे। फ़र्श पर जहाँ-तहाँ पंजों और नाखूनों की छापें थीं।

आगन्तुक ने कहा, "लोमड़ी।"

"हाँ। यह चौथी बार है। इतने बरसों में कभी ऐसा नहीं हुआ था; पर अब दूसरे-तीसरे दिन एक-आध बत्तख मारी जाती है और कुछ उपाय नहीं सूझता। मेरी बत्तखों पर सारे मंडल के गाँव ईर्ष्या करते थे—स्वयं 'सियेम' के पास भी ऐसा बढ़िया झुंड नहीं था! पर अब—" हीली चुप हो गयी।

आगन्तुक भी थोड़ी देर चुपचाप फ़र्श को और बत्तखों को देखता रहा। फिर उसने एक बार सिर से पैर तक हीली को देखा और मानों कुछ सोचने लगा। फिर जैसे निर्णय करता हुआ बोला, "आप ढिठाई न समझें तो एक बात कहूँ ?"

"कहिये।"

"मैं यहाँ छुट्टी पर आया हूँ और कुछ दिनों नाङ्-ब्लेम ठहरना चाहता हूँ। शिकार का मुझे शौक है। अगर आप इजाजत दें तो मैं इस डाकू की घात में बैठूँ—"फिर हीली की मुद्रा देख कर जल्दी से,

"नहीं, मुझे कोई कष्ट नहीं होगा, मैं तो ऐसा मौका चाहता हूँ। आपके पहाड़ बहुत सुन्दर हैं, लेकिन लड़ाई से लौटे हुए सिपाही को छुट्टी में कुछ शगल चाहिये।"

"आप ठहरे कहाँ हैं?"

"बँगले में। कल आया था, पाँच छः दिन रहूँगा। सबेरे-सबेरे घूमने निकला था, इधर ऊपर जा रहा था कि आप की आवाज़ सुनी। आप का मकान बहुत साफ़ और सुन्दर है—"

हीली ने एक रूखी-सी मुस्कान के साथ कहा,—"हाँ, कोई कचरा फैलाने वाला जो नहीं है! मैं यहाँ अकेली रहती हूँ।"

आगन्तुक ने फिर हीली को सिर से पैर तक देखा। एक प्रश्न उस के चेहरे पर झलका, किन्तु हीली की शालीन और अपने में सिमटी-सी मुद्रा ने जैसे उसे पूछने का साहस नहीं दिया। उसने बात बदलते हुए कहा "तो आपकी इजाज़त है न? मैं रात को बन्दूक लेकर आऊँगा। अभी इधर आस-पास देख लूँ कि कैसी जगह है और किधर से किधर गोली चलायी जा सकती है।"

"आप शौकिया आते हैं तो ज़रूर आइये। मै इधर को खुलनेवाला कमरा आप को दे सकती हूँ—" कह कर उसने घर की ओर इशारा किया।

"नहीं नहीं, मैं बरामदे में बैठ लूँगा—"

"यह कैसे हो सकता है? रात को आँधी-बारिश आती है। तभी तो मैं कुछ सुन नहीं सकी रात! वैसे आप चाहें तो बरामदे में आराम-कुर्सी भी डलवा दूँगी। कमरे में सब सामान है।" हीली कमरे की ओर बढ़ी, मानों कह रही हो, "देख लीजिये।"

"आप का नाम पूछ सकता हूँ?"

"हीली-बोन् यिर्वा। मेरे पिता सियेम के दीवान थे।"

"मेरा नाम दयाल है—कैप्टेन दयाल। फौजी इंजीनियर हूँ।"

"बड़ी खुशी हुई। आइये—अन्दर बैठेंगे?"

"धन्यवाद—अभी नहीं। आप की अनुमति हो तो शाम को आऊँगा। खू-ब्लाई—"

हीली कुछ रुकते स्वर में बोली, "खू-ब्लाई।" और बरामदे में मुड़ कर खड़ी होगयी। कैप्टेन दयाल बाड़े में से बाहर हो कर रास्ते पर हो लिये और ऊपर चढ़ने लगे, जिधर नयी धूप में चीड़ की हरियाली दुरंगी हो रही थी और बीच-बीच में बुरूस के गुच्छे-गुच्छे गहरे लाल फूल मानो कह रहे थे, पहाड़ के भी हृदय है, जंगल के भी हृदय है...

[२]

दिन में पहाड़ की हरियाली काली दीखती है, ललाई आग-सी दीप्त; पर साँझ के आलोक में जैसे लाल ही पहले काला पड़ जाता है। हीली देख रही थी; बुरूस के वे इक्के-दुक्के गुच्छे न जाने कहाँ अन्धकार-लीन हो गये हैं, जब कि चीड़ के वृक्षों के आकार अभी एक दूसरे से अलग स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं। क्यों रंग ही पहले बुझता है, फूल ही पहले ओझल होते हैं, जब कि परिपार्श्व की एकरूपता बनी रहती है?

हीली का मन उदास होकर अपने में सिमट आया। सामने फैला हुआ नाङ्-थ्लेमका पार्वतीय सौन्दर्य जैसे भाफ बन कर उड़ गया; चीड़ और बुरूस, चट्टानें, पूर्वपुरुषों और स्त्रियों की खड़ी और पड़ी स्मारक शिलाएँ, घास की टीलों-सी लहरें, दूर नीचे पहाड़ी नदी का ताम्र-मुकुर, मखमली चादर में रेशमी डोरे-सी झलकती हुई पगडंडी—सब मूर्त आकार पीछे हट कर तिरोहित हो गये। हीली की खुली आँखें भीतर की ओर को ही देखने लगीं—जहाँ भावनाएँ ही साकार थीं, और अनुभूतियाँ ही मूर्त्त...

हीली के पिता उस छोटे-से मांडलिक राज्य के दीवान रहे थे। हीली तीन संतानों में सब से बड़ी थी, और अपनी दोनों बहनों की अपेक्षा अधिक सुन्दर भी। खासियों का जाति-संगठन स्त्री-प्रधान है; सामाजिक सत्ता स्त्री के हाथों में है और वह अनुशासन में चलती नहीं, अनुशासन को चलाती है। हीली भी मानों नाङ्-थ्लेम की अधिष्ठात्री थी। 'नाङ्-

क्रेम' के नृत्योत्सव में, जब सभी मंडलों के स्त्री-पुरुष खासिया जाति के अधिदेवता नगाधिपति की बलि देते थे और उसके मर्त्य प्रतिनिधि अपने 'सियेम' का अभिनन्दन करते थे, तब नृत्यमंडली में हीली ही मौन सर्व-सम्मति से नेत्री हो जाती थी, और स्त्री-समुदाय उसी का अनुसरण करता हुआ झूमता था, इधर और उधर, आगे और दायें और पीछे... नृत्य में अंग-संचालन की गति न द्रुत थी न विस्तीर्ण; लेकिन कम्पन ही सही, सिहरन ही सही, वह थी तो उस के पीछे-पीछे, सारा समुद्र उस की अंग-भंगिमा के साथ लहरें लेता था...

एक नीरस-सी मुस्कान हीली के चेहरे पर दौड़ गयी। वह कई बरस पहले की बात थी...अब वह चौंतीसवाँ वर्ष बिता रही है; उस की दोनों बहनें ब्याह कर के अपने-अपने घर रहती हैं; पिता नहीं रहे और स्त्री-सत्ता के नियम के अनुसार उन की सारी सम्पत्ति सब से छोटी बहिन को मिल गयी। हीली के पास है यही एक कुटिया और छोटा-सा बगीचा—देखने में आधुनिक साहिबी ढंग का बँगला, किन्तु उस काँच और पर्दों के आडम्बर को सँभालने वाली इमारत वास्तव में क्या है? टीन की चादर से छता हुआ चीड़ का चौखटा, नरसल की चटाई पर गारे का पलस्तर, और चारों ओर जरेनियम, जो गमले में लगा लो तो फूल हैं, नहीं तो निरी जंगली बूटी...

यह कैसे हुआ कि वह, 'नाङ्-क्रेम' की रानी, आज अपने चौंतीसवें वर्ष में इस कुटी के जरेनियम के गमले सँवारती बैठी है, और अपने जीवन में ही नहीं, अपने सारे गाँव में अकेली है?

अभिमान? स्त्री का क्या अभिमान? और अगर करे ही तो कनिष्ठा करे जो उत्तराधिकारिणी होती है—वह तो सब से बड़ी थी, केवल उत्तरदायिनी! हीली के ओठ एक विद्रूप की हँसी से कुटिल हो आये। युद्ध की अशान्ति के इन तीन-चार वर्षों में कितने ही अपरिचित चेहरे दीखे थे, अनोखे रूप; उल्लसित, उच्छ्वसित, लोलुप, गर्वित, याचक, पाप-संकुचित, दर्प-स्फीत मुद्राएँ...और वह जानती थी कि इन चेहरों और

मुद्राओं के साथ उसके गाँव की कई स्त्रियों के सुख-दुःख, तृप्ति और अशान्ति, वासना और वेदना, आकांक्षा और सन्ताप उलझ गये थ, यहाँ तक कि वहाँ के वातावरण में एक पराया और दूषित तनाव आ गया था। किन्तु वह उस से अछूती ही रही थी। यह नहीं कि उसने इस के लिए कुछ उद्योग किया था या कि उसे गुमान था—नहीं, यह जैसे उस के निकट कभी यथार्थ ही नहीं हुआ था।

लोग कहते थे कि हीली सुन्दर है, पर स्त्री नहीं है। वह बाँबी क्या, जिस में साँप नहीं बसता?...हीली की आँखें सहसा और भी घनी हो आयीं—नहीं, इस से आगे वह नहीं सोचना चाहती! व्यथा मर कर भी व्यथा से अन्य कुछ हो जाती है? बिना साँप की बाँबी—अपरूप, अनर्थक मिट्टी का ढूह! यद्यपि, वह याद करना चाहती तो याद करने को कुछ था—बहुत कुछ था—प्यार उसने पाया था और उसने सोचा भी था कि—

नहीं कुछ नहीं सोचा था। जो प्यार करता है, जो प्यार पाता है, वह क्या कुछ सोचता है? सोच सब बाद में होता है, जब सोचने को कुछ नहीं होता।

और अब वह बत्तखें पालती है। इतनी बड़ी, इतनी सुन्दर बत्तखें खासिया प्रदेश में और नहीं है। उसे विशेष चिन्ता नहीं है, बत्तखों के अंडों से इस युद्धकाल में चार-पाँच रुपये रोज़ की आमदनी हो जाती है, और उस का खर्च ही क्या है? वह अच्छी है, सुखी है, निश्चिन्त है—

लोमड़ी...किन्तु वह कुछ दिन की बात है—उन का तो उपाय करना ही होगा। वह फौजी अफ़सर ज़रूर उसे मार देगा—नहीं तो कुछ दिन बाद थेङ्-क्यू के इधर आने पर वह उसे कहेगी कि तीर से मार दे या जाल लगा दे...कितनी दुष्ट होती है लोमड़ी—क्या रोज़ दो-एक बत्तख खा सकती हैं? व्यर्थ का नुकसान—सभी जन्तु ज़रूरत से ज्यादा घेर लेते और नष्ट करते हैं—

बरामदे के काठ के फ़र्श पर पैरों की चाप सुन कर उसका ध्यान टूटा। कैप्टेन दयाल नें एक छोटा-सा बेग नीचे रखते हुए कहा, "लीजिये, मैं आ गया।" और कन्धे से बन्दूक उतारने लगे।

"आपका कमरा तैयार है। खाना खायेंगे ?"

"धन्यवाद—नहीं। मैं खा आया। रात काटने को कुछ ले भी आया बेग में! मैं ज़रा मौका देख लूँ, अभी आता हूँ। आप को नाहक तकलीफ़ दे रहा हूँ लेकिन—"

हीली ने व्यंग्यपूर्वक हँस कर कहा, "इस घर में न सही, पर खासिया घरों में अक्सर पल्टनिया अफ़सर आते हैं—यह नहीं हो सकता कि आप को बिल्कुल मालूम न हो!"

कैप्टेन दयाल खिसिया-से गये। फिर धीरे-धीरे बोले, "नीचे वालों ने हमेशा पहाड़ वालों के साथ अन्याय ही किया है। समझ लीजिये कि पाताल वासी शैतान देवताओं से बदला लेना चाहते हैं!"

"हम लोग मानते हैं कि पृथ्वी और आकाश पहले एक थे—पर दोनों को जोड़ने वाली धमनी इनसान ने काट दी। तब से दोगों अलग हैं और पृथ्वी का घाव नहीं भरता।"

"ठीक तो है।"

कैप्टेन दयाल बाड़े की ओर चले गये। हीली ने भीतर आकर लैम्प जलाया और बरामदे में लाकर रख दिया, फिर दूसरे कमरे में चली गयी।

[२]

रात में दो-अढ़ाई बजे बन्दूक की 'धाँय!' सुन कर हीली जागी, और उस ने सुना कि बरामदे में कैप्टेन दयाल कुछ खटर-पटर कर रहे हैं। शब्द से ही उस ने जाना कि वह बाहर निकल गये हैं, और थोड़ी देर बाद लौट आये हैं। तब वह उठी नहीं; लोमड़ी ज़रूर मर गयी होगी और उसे सबेरे भी देखा जा सकता है, यह सोचकर फिर सो रही।

किन्तु पौ फटते-न-फटते वह फिर जागी। खासिया प्रदेश के बँगलों

की दीवारें असल में तो केवल काठ के परदे ही होते हैं, हीली ने जाना कि दूसरे कमरे में कैप्टेन दयाल जाने की तैयारी कर रहे हैं। तब वह भी जल्दी से उठी, आग जला कर चाय का पानी रख, मुँह-हाथ धो कर बाहर निकली। क्षण भर अनिश्चय के बाद वह बत्तखों के बाड़े की तरफ़ जाने को ही थी कि कैप्टेन दयाल ने बाहर निकलते हुए कहा, "खू-ब्लाई, मिस थिर्वा; शिकार ज़ख्मी तो हो गया पर मिला नहीं, अब खोज में जा रहा हूँ।"

"अच्छा ? कैसे पता लगा ?"

"खून की निशानों से। ज़ख्म गहरा ही हुआ है—घसीट कर चलने के निशान साफ़ दीखते थे। अब तक बचा नहीं होगा—देखना यही है कि कितनी दूर गया होगा।"

"मैं भी चलूँगी। उस डाकू को देखूँ तो—" कह कर हीली लपक कर एक बड़ी 'डाओ' उठा लायी और चलने को तैयार हो गयी।

खून के निशान चीड़ के जंगल को छू कर एक ओर मुड़ गये, जिधर ढलाव था और आगे जरैंत की झाड़ियाँ, जिन के पीछे एक छोटा-सा झरना बहता था। हीली ने उस का जल कभी देखा नहीं था, केवल कल-कल शब्द ही सुना था—जरैंत का झुरमुट उसे बिल्कुल छाये हुए था। निशान झुरमुट तक आ कर लुप्त हो गये थे।

कैप्टेन दयाल ने कहा, "इस के अन्दर घुसना पड़ेगा। आप यहीं ठह-रिये।"

"उधर ऊपर से शायद खुली जगह मिल जाय—वहाँ से पानी के साथ-साथ बढ़ा जा सकेगा—" कह कर हीली बायें को मुड़ी, और कैप्टेन दयाल साथ हो लिये।

सचमुच कुछ ऊपर जाकर झाड़ियाँ कुछ विरली हो गयी थीं और उन के बीच में घुसने का रास्ता निकाला जा सकता था। यहाँ कैप्टेन दयाल आगे हो लिये, अपनी बन्दूक के कुन्दे से झाड़ियाँ इधर-उधर ठेलते हुए रास्ता बनाते चले। पीछे-पीछे हीली हटाई हुई लचकीली शाखाओं

के प्रत्याघात को अपनी डाम्रो से रोकती हुई चली।

कुछ आगे चल कर झरने का पाट चौड़ा हो गया—दोनों ओर ऊँचे और आगे झुके हुए करारे, जिन के ऊपर जरैंत और हाली की झाड़ी इतनी घनी छायी हुई कि भीतर अँधेरा हो,परन्तु पाट चौड़ा होने से मानो इस आच्छादन के बीच में एक सुरंग बन गयी थी जिसमें आगे बढ़ने में विशेष असुविधा नहीं होती थी।

कैप्टेन दयाल नें कहा, "यहाँ फिर खून के निशान हैं—शिकार पानी में से इधर घिसट कर आया है।"

हीली ने मुँह उठा कर हवा को सूँघा मानो सील और जरैंत की तीव्र गन्ध के ऊपर और किसी गन्ध को पहचान रही हो। बोली, "यहाँ तो जानवर की—"

हठात् कैप्टेन दयाल ने तीखे फुसफुसाते स्वर से कहा, "देखो—श्-श्!"

ठिठकने के साथ उन की बाँह ने उठ कर हीली को भी जहाँ का तहाँ रोक दिया।

अन्धकार में कई-एक जोड़े अंगारे-से चमक रहे थे।

हीली ने स्थिर दृष्टि से देखा। करारे में मिट्टी खोद कर बनायी हुई खोह में—या कि खोह की देहरी पर—नर लोमड़ का प्राणहीन आकार दुबका पड़ा था—कास के फूल की झाड़ू-सी पूँछ उसकी रानों को ढँक रही थी जहाँ गोली का ज़ख्म होगा। भीतर शिथिल-गात लोमड़ी उस शव पर झुकी खड़ी थी, शव के सिर के पास मुँह किये मानों उसे चाटना चाहती हो और फिर सहम कर रुक जाती हो। लोमड़ी के पाँवों से उलझते हुए तीन छोटे-छोटे बच्चे कुनमुना रहे थ। उस कुनमुनाने में भूख की आतुरता नहीं थी; न वे बच्चे लोमड़ी के पेट के नीचे घुसड़-पुसड़ करते हुए भी उसके थनों को ही खोज रहे थे...माँ और बच्चों में किसी को ध्यान नहीं था कि ग़ैर और दुश्मन आँखें उस गोपन घरेलू दृश्य को देख रही हैं।

कैप्टेन दयाल ने धीमे स्वर से कहा, "यह भी तो डाकू होगी—"

हीली की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। उन्होंने फिर कहा, "इसे भी मार दें—तो बच्चे पाले जा सकें—"

फिर कोई उत्तर न पा कर उन्होंने मुड़ कर देखा और अचकचा कर रह गये।

पीछे हीली नहीं थी।

थोड़ी देर बाद, कुछ प्रकृतस्थ होकर उन्होंने कहा, "अजीब औरत है।" फिर थोड़ी देर वह लोमड़ी को और बच्चों को देखते रहे। तब "उँह, मुझे क्या!" कहकर वह अनमने-से मुड़े और जिधर से आये थे उधर ही चलने लगे।

[४]

हीली नंगे पैर ही आयी थी; पर लौटती बार उस ने शब्द न करने का कोई यत्न किया हो, ऐसा वह नहीं जानती थी। झुरमुट से बाहर निकल कर वह उन्माद की तेज़ी से घर की ओर दौड़ी, और वहाँ पहुँच कर सीधी बाड़े में घुस गयी। उस के तूफ़ानी वेग से चौंक कर बत्तखें पहले तो बिखर गयीं पर जब वह एक कोने में जाकर बाड़े के सहारे टिक कर खड़ी अपलक उन्हें देखने लगी तब वे गर्दनें लम्बी कर के उचकती हुई-सी उस के चारों ओर जुट गयीं और 'कक्! क-क्' करने लगीं।

वह अधैर्य हीली को छू न सका, जैसे चेतना के बाहर से फिसल कर गिर गया। हीली शून्य दृष्टि से बत्तखों की ओर तकती रही।

एक ढीठ बत्तख ने गर्दन से उस के हाथ को ठेला। हीली ने उसी शून्य दृष्टि से हाथ की ओर देखा। सहसा उस का हाथ कड़ा हो आया, उस की मुट्ठी डाओ के हत्थे पर भिंच गयी। दूसरे हाथ से उसने बत्तख का गला पकड़ लिया और दीवार के पास खींचते हुए डाओ के एक झटके से काट डाला।

उसी अनदेखते अचूक निश्चय से उसने दूसरी बत्तख का गला पकड़ा, भिंचे हुए दाँतों से कहा: "अभागिन!" और उस का सिर उड़ा

दिया। फिर तीसरी, फिर चौथी, पाँचवीं...ग्यारह बार डाग्रो उठी ग्रौर 'खट् !' के शब्द के साथ बाड़े का खम्भा काँपा; फिर एक बार हीली ने चारों ग्रोर नज़र दौड़ायी ग्रौर बाहर निकल गयी !

बरामदे में पहुँच कर जैसे उसने ग्रपने को सँभालने को खम्भे की ग्रोर हाथ बढ़ाया ग्रौर लड़खड़ाती हुई उसी के सहारे बैठ गयी।

कैप्टेन दयाल ने ग्राकर देखा, खम्भे के सहारे एक ग्रचल मूर्ति बैठी है जिसके हाथ लथपथ हैं ग्रौर पैरों के पास खून से रँगी डाग्रो पड़ी है। उन्होंने घबरा कर कहा, "यह क्या, मिस यिर्वा ?" ग्रौर फिर उत्तर न पाकर उस की ग्राँखों का जड़ विस्तार लक्ष्य करते हुए उस के कन्धे पर हाथ रखते हुए फिर, धीमे-से, "क्या हुग्रा, हीली—"

हीली कन्धा झटक कर, छिटक कर परे हटती हुई खड़ी हो गयी ग्रौर तीखेपन से थर्राती हुई ग्रावाज़ से बोली, "दूर रहो, हत्यारे !"

कैप्टेन दयाल ने कुछ कहना चाहा, पर ग्रवाक् ही रह गये, क्योंकि उन्होंने देखा, हीली की ग्राँखों में वह निर्व्यास सूनापन घना हो ग्राया है जो कि पर्वत का निरन्तन विजन सौन्दर्य है।

वे दूसरे

हेमन्त कई क्षण तक चुपचाप बालू की ओर देखता रहा। यह नहीं कि उस के मन में शून्य था; यह भी नहीं कि मन की बात कहने को शब्द बिलकुल ही नहीं थे, केवल यही कि बालू पर उस के अपने पैरों की जो छाप पड़ी हुई थी—गीली बालू पर, जो चिकनी पाटी की तरह होती है—उस में उस के लिए एक आकर्षण था जिस में निरा कौतूहल नहीं, जिज्ञासा की एक तीखी तात्कालिकता थी। छालियाँ उस के पास तक आ कर लौट जाती थीं—क्या कोई बड़ी लहर आ कर उस छाप को लील जायगी ? क्या एक ही लहर में वह छाप मिट जायगी—या कि केवल हल्की पड़ जायगी—मिटने के लिए कई लहरों को आना होगा, जिन लहरों को पैदा करने के लिए समुद्र की, पृथ्वी की आन्तरिक हलचल की, चन्द्र-सूर्य-तारागण के आकर्षण की एक विशेष अन्योन्य-सम्बद्ध स्थिति को बार-बार आना होगा...क्या उसका एक-एक अनैच्छिक पद-चिन्ह मिटाने के लिए सारे विश्व-चक्र के एक विशेष आवर्तन की आवश्यकता है ?

"कोरा अहंकार !" उसने अपने को झकझोरने के लिए कहा, "कोरा अंहकार ! इस लिए नहीं कि बात मूलत: झूठ है, इस लिए कि उस को तूल देना झूठ है झूठ मूलत: तथ्य का नहीं, आग्रह का, दृष्टि का दोष है : झूठ-सच विषयी पर आश्रित, सापेक्ष्य हैं, तथ्य विषयी से परे और निरपेक्ष हैं।"

और तब उस ने अपनी साथिन से कहा, "सुधा, मैं कह नहीं सकता कि मेरे मन में कितनी ग्लानि है, और मैं जानता हूँ कि वह वर्षों तक मुझे खाती रहेगी—मुझे लगता है कि अनुताप का यह बोझ मैं सारा जीवन ढोता रहूँगा। लेकिन—" क्षण-भर रुक कर उस ने सुधा के चेहरे की ओर देखा—"लेकिन मैं नहीं चाहता कि कटुता का बोझ तुम्हें भी ढोना पड़े या कि तुम उसे याद भी रखो। और—"

वह फिर थोड़ी देर चुप हो गया। इस लिए भी कि आगे वह जो कहना चाहता था उसे कहने में उसे झिझक थी, और इस लिए भी कि वह चाहता था, ठीक इस स्थल पर सुधा उस की बात काट कर कुछ कह दे, जिस से उसे कुछ सहारा मिल जाय।

पर सुधा ने कुछ कहा नहीं। वह पिघली भी नहीं। हेमन्त ने यह आशा तो नहीं की थी कि उस पर भी अनुताप का इतना गहरा बोझ होगा कि उसे उदार बना दे, पर इतने की आशा उसने शायद की थी कि सुधा में और नहीं तो करुणा का ही इतना भाव होगा कि उस की सच्ची भावना को स्वीकार करा दे। पर सुधा ने जल्दी से मुँह फेर लिया—और हेमन्त ने देखा कि उस फिरते हुए मुँह पर एक मुस्कान दौड़ने वाली है—विजय के गर्व की मुस्कान—मानो कहती हो कि 'अब जा कर तुम जानोगे, अनुताप की आग में जलोगे तो मुझे शान्ति मिलेगी—तुम जिसने मुझे सताया-जलाया—"

ऐसी विदा की उसने कल्पना नहीं की थी। उसे सहसा लगा कि वह मूर्ख है, महामूर्ख, क्योंकि जब साथ रहना असम्भव पाकर वे अलग हुए, और इतना कटुता के बाद तलाक हुआ ही तब और अलग विदा लेना चाहने का क्या मतलब था? क्या वह कलाकार का दम्भ ही नहीं है कि वह पराजय को भी सुघर रूप देना चाहे? अन्त का सौन्दर्य उसकी सुचारुता में, सुघराई में नहीं है, करुणा में भी नहीं है, वह उसके अपरिहार्य अन्तिमपन और काठिन्य में है...अन्त सुन्दर है क्योंकि वह महान् है, महान् है क्योंकि हम उस का कुछ नहीं कर सकते, उसे केवल स्वीकार कर सकते हैं...

किन्तु उस का मन नहीं माना। देख कर भी उसने सुधा की गर्वीली मुस्कान देखनी नहीं चाही। क्योंकि यह तो निरी मृत्यु-पूजा है। अन्त इस लिए महान् है कि हम उस के आगे अशक्त हैं?—नहीं, हमारी स्वीकृति का संयम और साहस उसे महत्ता देता है—

और उसने पूरा साहस बटोर कर अपने मन की बात कह ही डाली,

"और अगर तुम मुझे इतना भूल सको—यानी मेरे साथ की कटुता को—दुबारा विवाह की बात तुम्हारे मन में उठे, तो—तो मुझे बड़ी सान्त्वना मिलेगी—मेरा अनुताप तब भी मिटेगा या नहीं, यह तो नहीं कह सकता, पर इतना तो मान सकूँगा कि मैं सदा के लिए शाप न बना, कि—"

अब सुधा फिर उस की ओर मुड़ी। अब उसने अपने को वश में कर लिया था—वह अप्रतिहत मुस्कान उसके चेहरे पर नहीं थी। उसनें रूखे स्वर से कहा, "मेरे विवाह की बात सोचने की तुम्हें जरूरत नहीं है। हाँ, उस से तुम अपने को अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे, यह तो मैं समझती हूँ।"

हेमन्त थोड़ी देर बोल ही नहीं सका। फिर जब उसने सोचा कि शायद अब सकूँ, तब उसनें पाया कि वह चाहता नहीं है। तीन वर्षों की व्यर्थ चेष्टा में, अलग होने की कटुता में और फिर तलाक की कानूनी कार्रवाई के ग्लानि-जनक प्रसंग में वह जितना नहीं टूटा था, उतना इस एक क्षण में टूट गया। उसने आँखें फिर पैर की उसी छाप पर टिका लीं—एक लहर आकर उस पर हल्के हाथ से लिपाई कर गयी थी, गड्ढे कम गहरे हो गये थे पर छाप का आकार स्पष्ट पहचाना जाता था, बल्कि लहर के पीछे हटने के साथ पैर की छाप में भरा हुआ पानी एक ओर को मानो मोरचा तोड़ कर बह निकला था और उधर को बालू में एक नयी लीक पड़ गयी थी—इस छाप को मिटाना ही होगा—लहर को आना ही होगा, और यह लीक—यह लीक एक अनावश्यक आकस्मिक घटना है जिसे और एक आकस्मिक घटना अवश्य मिटायेगी, नहीं तो सब गलत है, सब व्यवस्था गलत है, कार्य-कारणत्व ही धोखा है—और तब सृष्टि एक आधारहीन, कारणहीन, अर्थहीन विसंगति है—पर वह वैसी हो नहीं सकती—

वह आँखों से उस पैर की छाप को पकड़े रहेगा। उस में स्वास्थ्य है—उस के सहारे यथार्थ से उस का सम्बन्ध जुड़ा है—उस यथार्थ से

जिस में भावनाएँ अर्थ रखती हैं; और संयत हैं; नहीं तो यथार्थ तो सब कुछ है जो है––पर ऐसा भी हो सकता है कि भावनाएँ ही एक भूल-भुलैया हो जावें––

उसनें फिर कहा, "मैं यहाँ से करुणा की स्मृति भी वापस न ले कर जाऊँगा, यही सोच कर यहाँ आया था। और इसी लिए सागर के किनारे––कि शायद यहाँ अपनी क्षुद्रता उतनी प्यारी न लगे, और––" वह फिर रुक गया, उस के वाक्य की गढ़न ठीक नहीं थी क्योंकि इस के अर्थ दोनों तरफ़ लग सकते हैं और वह केवल अपनी क्षुद्रता की बात करना चाहता है, इस वक्त आरोप-अभियोग उस में नहीं है, न होने देना होगा, केवल स्वीकृति...

एक और लहर आयी, जिसके उफनते झाग पैर की छाप के बहुत आगे तक छा गये। जब लहर लौटी, और झाग के बुलबुले बैठ गये, तब हेमन्त नें देखा, छाप मिट गयी है। या कि नहीं, उस की झाईं-सी अभी दीखती है ? नहीं, निश्चय ही वह उसका भ्रम है; और कोई कुछ न देख सकता, वह इस लिए देखता है कि उसे याद है––

'याद' है ! कितनी घुली हुई मिथ्या छायाओं को हम केवल स्मृति के––स्मरण-भ्रम के !––ज़ोर से सच बनाये रहते हैं ? सागर का जो तट मीलों तक फैला है––मीलों क्यों, अगर कोई चीज भौतिक यथार्थ के इस छोर से उस छोर तक, इस सीमा से उस सीमा तक, इस असीम से उस असीम तक फैली है तो वह सागर का तट है ! उसी पर एक अदृश्य पैर की छाप को मैं 'देख' रहा हूँ, वह भी इतनी स्पष्टता से कि उस से मेरा जीवन बँध रहा है––क्या यह यथार्थ है ? क्या देखना यथार्थ है ? क्या––

❀ ❀ ❀

हेमन्त देखता है––

वे दोनों पहाड़ी की चोटी पर खड़े हैं। सामने अत्यन्त सुन्दर दृश्य है––छोटी-छोटी पहाड़ियों से घिरी हुई-सी झील जो साँझके आलोक

में ऐसी है मानो रंग-विरंगा और मेघिल आकाश ही जम कर नीचे बैठ गया हो; ऊपर पहली शरद् के मेघ जिन्हें डूबते सूरज की आभा ने रँग दिया है––पीला, लाल, धूमिल बैंगनी। और ऊपर एक अकेला तारा। लेकिन हेमन्त उस दृश्य में नहीं है। वह सुधा के साथ भी नहीं है। वह कहीं और हो, ऐसा नहीं है, वह सुधा और हेमन्त को इस परिपार्श्व में जैसे बाहर से देख रहा है, वह भी पीछे से––और सोच रहा है कि उन दोनों की पीठ इस झील और आकाश के परदे पर कैसी दीखती होगी? क्या उन पीठों में, उन छायाकृतियों के परस्पर रखाव-झुकाव में, इस बात का कोई संकेत है कि ये दो––प्रेमी हैं, या कि पति-पत्नी हैं, विवाह के सप्ताह भर बाद ही इस पहाड़ी झील की सैर, एकान्त सैर के लिए आये हैं, इस लिए 'हनीमूनर' युगल हैं? वह जानता है कि ऐसा कोई संकेत नहीं है, क्योंकि यह झूठ है। तथ्य सब ठीक हैं––पर आग्रह की चूक है, भावना की चूक है। और निरा तथ्य तब तक सत्य की अभिधा नहीं पाता जब तक उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध न हो...

बल्कि वह साथ भी नहीं है। मानो वह अगर हाथ बढ़ाकर सुधा का हाथ पकड़ लेगा तो भी उसे छूएगा नहीं क्योंकि दोनों एक भावनात्मक दूरी की चादर में लिपटे हुए हैं।

सुधा ने धीरे से कहा, "हम यहाँ नहीं होंगे, तब भी यह तारा ऐसा ही चमकेगा। पर जैसे हम आज इसे देख रहे हैं, वैसे और कोई नहीं देखेगा––यह आज इस क्षण का तारा है।"

हेमन्त को थोड़ा-सा अचम्भा हुआ। क्या यह सच है? ऐसे क्षण पर भावुकता क्या ज़रूरी है? जो सच होता तो मौन में भी प्रकट होता, वह जब सच नहीं है तो क्या इस बात को भी मौन में ही न छिपे रहना चाहिए? पर यह वह कह भी कैसे सकता है? लेकिन उसे कुछ कहना है, क्योंकि दूसरा जो उत्तर हो सकता है––कि सुधा का हाथ पकड़ कर धीरे से दबा दिया जाता––वह उत्तर भी झूठ है...

उसने कहा, "तारे सब के अलग-अलग होते हैं।" इस वाक्य म

चाहे जितना जो अर्थ पढ़ा जा सकता है, अधिक या कम...और अपने मन का सच भी उसने कह दिया है, छिपाया नहीं है...

सुधा ने उस की ओर देखा। क्या हेमन्त को धोखा ही हुआ कि जब देखा, तब पहचान उन आँखों में नहीं थी, तत्काल बाद आयी—कुछ अचकचाहट के साथ ?

सुधा बोली, "क्या सुन्दर में हम सब अपने-अपने अलगाव डुबा नहीं सकते ?"

"सकते हैं। अपने-अपने एकान्त का लय—" और रुक गया। लेकिन मन के भीतर कुछ बोला, "सुन्दर में; लेकिन एक-दूसरे में नहीं, एक-दूसरे में नहीं !"

अपने को लय करने के लिए सागर की विशालता से अच्छा और कौन द्रावक मिल सकता है ? कितने लोग सागर-तट पर खड़े-खड़े इयत्ता को उस में विलीन कर देते होंगे...लेकिन उस से क्या एक-दूसरे के कुछ भी निकट आ सकते होंगे ? सागर में डूब कर भी क्या प्रत्येक चट्टान अलग चट्टान नहीं बनी रहती ? जो द्रव नहीं होती, द्रव हो नहीं सकती...

और सागर की छाली, पैर की छाप को मिटाने से पहले उस में छेद करती है, दरार डालती है, नयी लीक बना देती है...

हेमन्त ने फिर देखा :

नदी पर बजरा धीरे-धीरे बह रहा है। उस के डोलने से, और बाहर लकड़ी पर पड़ती माँझी की दबी हुई पद-चाप से ही मालूम हो रहा है कि वह बह रहा है, क्योंकि जहाँ वह बैठा है, वहाँ चारों ओर के परदे खिंचे हुए हैं, बाहर कुछ नहीं दीख रहा है। कहीं भी कुछ भी दीख रहा है, ऐसा नहीं है; क्योंकि उस का शरीर एक अन्य शरीर से उलझा-गुँथा हुआ है और उस गुंथन में सुलझाव की, तारतम्य की कुछ ऐसी कमी है कि दृष्टि देने वाली वासना केवल धुआँ दे रही है जिस से आँखें कड़ुआ जाती हैं। क्यों नहीं सब कुछ को दृष्टि से बाहर

कर के, उस मन्द-मन्द दोलन पर झूलते हुए यह अपर-शरीरत्व का भाव मिटता—क्यों नहीं—

उसने किंचित् बल से सुधा का परे को मुड़ा मुँह अपनी ओर फिराया—कदाचित् उस की आँखों में आँखें डाल कर दोनों इस खाई को पार कर सकें—लेकिन सुधा की आँखें जोर से भिंची हुई थीं—क्यों ? वासना अन्धकार माँगती है शायद, ताकि वह अपनी ज्वाला-मयी सृष्टि को अपने ढंग से देखे, यथार्थ उस में बाधा न दे—पर बन्द आँखें—क्या वह ज्योतिःशरीर अन्धी आँखों से ही देखा जायगा ? पर अन्धी आँखें पृथक् आँखें हैं, और वासना अगर युत नहीं है तो कुछ नहीं है—

उसने भर्राये स्वर में कहा, "आँखें खोलो—आँखें खोलो—"

वह जान सका कि आँखें खुलने के साथ-साथ सुधा का शरीर सहसा कठोर पड़ गया है, और वह जान सका कि पहचान उन आँखों में नहीं थी; उन आँखों में था—वह, वह दूसरा, और इसी लिए आँखें बन्द थीं—बाहर एक धुएँ का खोल है जो उसे भी लपेट लेगा, और भीतर एक ज्योतिःशरीर जो—जो कहाँ है ? क्या है भी ?

और थोड़ी देर के लिए नाव का दोलना, गति, हवा, साँस, हृद्गति, सब कुछ रुक गया था, और फिर धीरे-धीरे अनजाने वह वासना की गुंजलक खुल गयी थी—साँप मर गया था—हेमन्त अलग जाकर परदा हटा कर बाहर देखने लगा था नदी किनारे के गाँव की मुर्गाबियाँ कगार की छाँह में तैरती हुई; और सुधा अपने अस्तव्यस्त कपड़ों की सल-वटें ठीक कर के पास पड़ी चौकी के फूल सँवारने लगी थी। हेमन्त का मन आत्मग्लानि से भर आया था—वह जो जानता है उसे क्यों भूल सका; भूल नहीं सका, क्यों उसकी अनदेखी करना चाह सका ? सुधा की आँखों में वह दूसरा है, और स्वयं उस की अपनी—क्या उस की आँखों में भी एक परछाईं नहीं है ? और जब तक है तब तक यह उलझन, यह गुँथन उस ज्योतिःशरीर का किरण-जाल नहीं है, केवल

साँप की गुंजलक है जिस के दंश में केवल मरण है...

और सुधा ने कहा था, "हेमन्त, तुम मेरी एक इच्छा पूरी करोगे ?"

"क्या ?"

"मैं . . . मेरे लिए शराब ला सकोगे ? मैं शराब पीना चाहती हूँ।"

मुर्गाबियाँ. . . कगार के कीचड़ में चोंच फिचफिचाती हुई मुर्गाबियाँ और उन के आस-पास बनते हुए लहरोंके वृत्त—जो सागर की लहरों में घुल जाते हैं, और सागर वह रेत के पैरों की छाप धीरे-धीरे मिटा देता है—

शराब वह लाया था। मूक विद्रोह से भरा हुआ, पर लाया था। दोपहर को वे खाना खाने बैठे थे, और साथ सुधा ने शराब पीनी चाही थी—पी थी। दोपहर को कोई नहीं पीता, खाने के साथ कोई नहीं पीता, कम से कम जिन-ह्विस्की जैसी भभके की शराबें, और उस ढंग से—यह न वे ठीक जानते थे, न वह सोचने की बात थी। क्योंकि वह शराब वातावरण को रंगीनी देने, बातचीत को आलोकित करने के लिए नहीं थी, वह शराब स्वयं अपनी इन्द्रियों को थप्पड़ मार कर सन्न कर देने के लिए थी...हेमन्त देख रहा था; और केवल देखना, वह भी स्त्री को शराब पीते, स्वयं ग्लानि-जनक है, इस लिए साथ पी रहा था। और जब उसने देखा कि सुधा ने बड़े निश्चय-पूर्वक बहुत-सी अपने ग्लास में एक साथ ढाल ली है तब मुख्यतया इस लिए कि सुधा और न पी सके, उसने सहसा बोतल उठा कर मुँह को लगा ली थी और सुधा के हाथा-पाई करते-करते भी सारी पी गया था।

तेज शराबों में स्वाद यों भी नहीं होता; और ऐसे पीने में तो और भी नहीं, उसे बड़ी जोर से उबकाई आयी थी, पर उस ने किसी तरह उसे दबा कर चार-छः ग्रास खाना खा ही लिया था. . .

फिर उस की चेतना भी कुछ मन्द पड़ गयी थी। उसे याद सब

कुछ है, और उस की प्रत्येक हरकत में एक स्पष्ट प्रेरणा भी काम कर रही थी जिस का उसे ध्यान भी था, पर जैसे उस के भीतर का कोई उच्चतर संचालक हथौड़ की चोट से चित्त हो गया हो, और ऐरे-गैरों की बन आयी हो. . . उसने उठ कर सब किवाड़-खिड़कियाँ बन्द कर दी थीं, परदे तान दिये थे। थी अभी दोपहर, पर उसे अभी कुछ धुँधला, कुछ नीला-सा दीखनें लगा था, जैसे पानी के नीचे गोता लगा कर आँख खोलनें से दीखता है। हवा भी जैसे पानी जैसी भारी और ठोस हो गयी थी—चलने में उसे ऐसा जान पड़ता था जैसे वह पानी को ठेल-ठेल कर बढ़ रहा हो...जैसे ठीक प्रतिरोध तो कहीं न हो, लेकिन प्रत्येक अंगक्षेप में अजीब जड़ता आ गयी हो...

इस से आगे उसे ठीक या स्पष्ट याद नहीं। यह नहीं कि स्मृति धुँधली हो गयी है; शायद जिस बोध की स्मृति है वही धुँधला, धुंएँ से कड़वा, मैला, एक जड़ता लिये हुए है, जैसे जाड़े में ठिठुरा हुआ साँप। उसे याद है कि कहीं नीले-नीले पानी-से में मछलियों की तरह निःशब्द से, वे एक दोनों एक दूसरे के पास आये थे, और जैसे मछलियाँ पानी में भी बलखाती-सी मानो एक दूसरे से सटती-सी, पेच देती-सी चली जाती हैं, उसी तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ गये थे...फिर सहसा उस ने पाया था कि उन मछलियों के पेच नहीं खुल रहे हैं, कि वह ठिठुरा हुआ साँप जैसे जाग उठा है और उस की गुँजलक में वे दोनों कसे जा रहे हैं, पर पानी नीला होता जा रहा है, और उन के कपड़े भी मानो मोम से जान पड़ रहे हैं, या कि हैं ही नहीं, केवल नीले पानी में काँपती उन की परछाई है, तभी तो उन के हाथों की पकड़ में नहीं आते—

और फिर सब नीला ही नीला हो गया था, एक द्रव जिस में वे जड़ होते जा रहे हैं; न उलझे, न अलग; गर्म पानी में पड़ी हुई मोम की बूंद जो न घुल सकती है, न जम सकती है।

और इस के बाद जो उसे याद है, वह यह कि जब वह चौंक कर जागा था और हड़बड़ा कर उठा था कि वमी करने के लिए कम से कम

यथास्थान पहुँच जाय, तब दिन छिप रहा था। मुँह-हाथ धोकर जब वह सख्त सिर-दर्द लिए कमरे में लौटा था, तब सुधा सोयी पड़ी थी। उसने नींद में, या बीच में जाग कर, वहीं पास ही क़ै कर दी थी पर उस का भी उसे होश नहीं था...

और उस ने सब किवाड़-खिड़कियाँ खोली थीं; नौकर बाहर मुस्कराया था कि बाबू साहब दिन भर किवाड़ बन्द कर के सोये रहे, चाय-पानी और ब्यालू की चिन्ता भूल कर—नयी शादी है न...

तब उसने बैठ कर सामने-सामनें उस दूसरे की बात को फिर से सोचा था और गहरे बैठा लिया था...जब विवाह हुआ था, तब दोनों जानते थे कि दोनों का पहले अन्यत्र लगाव रहा है जो मिटा नहीं है, लेकिन जिस का कोई रास्ता भी नहीं है। एक विवाहित व्यक्ति था, और पति-पत्नी दोनों ही सुधा के भी और हेमन्त के भी घने मित्र थे...वह परिवार न टूटे, यह भी सब के ध्यान में था, और विवाह हुआ तब जैसे यह भी एक बात पीछे कहीं थी कि अगर सभ्य समाज में ऐसी उलझनें पैदा होती हैं, तो सभ्य व्यक्ति उसका सामना भी सभ्य तरीकों से कर सकता है; प्यार जहाँ है वहाँ हो, और विवाह...विवाह तो सामाजिक सम्बन्ध है, व्यक्ति के जीवन में वह बाधक हो ही, ऐसा क्यों ?

वह अपनी भूल जानता और मानता है—जान गया। और भूल दोनों की थी, इस बात के पीछे उसने आड़ नहीं ली।

वह दूसरा...क्या वह आज भी उस दूसरे की बात कर सकता है ? अपनी ओर से, या दूसरी ओर से ? हेमन्त ने सागर की ओर देखा, उसकी लहर में उसे बुरूस के फूलों का एक बड़ा-सा लाल गुच्छा दीखा, जो वास्तव में किसी की कबरी म खोंसा हुआ है, कबरी और माथे की रेखा भी उसे दीख गयी, और ग्रीवा की बंकिम भंगिमा, किन्तु चेहरा—वहाँ उसकी दृष्टि रुक गयी। नही...वह दूसरी, थी—और आज भी वह कैसे कहे कि वह है नहीं केवल थी, यद्यपि वह

जानता है कि वह हो कर भी हेमन्त के जीवन से सदा के लिए चली गयी है। पर उस को इस झमेले में नहीं लाना होगा, वह अलग ही है। उसने कभी कुछ नहीं माँगा. . . न प्यार, न, ब्याह, न वासना. . . वह देकर चली गयी जैसे बिजली कौंध कर गिर कर मिट जाती है. . .

और सुधा ? हेमन्त को याद आया, ब्याह के बाद सुधा को उस दूसरे की एक चिट्ठी भी आयी थी। कई दिन बाद। उसने देखी नहीं थी, कुछ पूछा नहीं था, सुधा को अनमना और अस्थिर देख कर भी नहीं। पर दूसरे-तीसरे दिन सुधा ने ही कहा था, "यह चिट्ठी आयी थी—पढ़ लो।"

और उस में अनिच्छा स्पष्ट थी। 'मैं ने कह दिया, मेरा कर्तव्य था। तुम इनकार करो पढ़ने से, क्योंकि तुम्हारा भी वह कर्तव्य है—तुम्हें मुझ पर विश्वास करना होगा!'

हेमन्त ने चिट्ठी न लेते हुए कहा था, "क्या लिखा है ?"

"कुछ नहीं—यों ही शुभ-कामनायें—और अपने इलाके का वर्णन—"

हेमन्त ने अनचाहे लक्ष्य किया था कि चिट्ठी लम्बी है। आशीर्वाद छोटे होते हैं...खास कर उस के, जो वह दूसरा व्यक्ति हो...उस की आँखें चोरी से कागज पर फिसलती हुई एक वाक्य पर रुक गयी थीं : "और मैं सोचता हूँ कि तुम शीघ्र ही उस के बच्चे की माँ भी होगी—उस बच्चे की सूरत उस जैसी होगी, लेकिन वह तुम्हारी देह—" और जैसे उस ने स्वयं चोर को पकड़ लिया हो, ऐसे चौंक कर उस की दृष्टि हट गयी थी।

क्या वह बहुत बड़ा स्वीकार नहीं है ? किन्तु कैसी अद्भुत है यह बात, कि जिस की आत्मा हम दूसरे को सौंपने को तैयार हैं—क्योंकि उस के ब्याह की बात स्वीकार करते हैं—उसी की देह को सौंपते क्यों हमें इतना क्लेश होता है ? 'दूषित' या 'भ्रष्ट' क्या देह होती है,

या मन—आत्मा ? या कि देह को हम देख, छू, सकते हैं, बस इतनी-सी बात है ?

उसने कहा था, "ठीक है, मैं पढ़ कर क्या करूँगा। तुम उत्तर दे देना।" और उठ कर हट गया था...

बुरूस के गुच्छे-गुच्छे लाल फूल...वह भी क्या ऐसे ही सोचती—कहती ? कल्पना का क्या भरोसा, लेकिन हेमन्त जानता है, कभी कुछ कहने का अवसर उसे होता, या कुछ वह कहना चाहती, तो यही कहती, "मैंने अपनी आत्मा तुम्हें दी है, इस लिए मेरी देह भी तुम लो—क्योंकि वह आत्मा का खोल है। और उस के बदले में कुछ देना कभी मत चाहना, क्योंकि वह मेरे इस उपहार का अपमान है। तुम निरपेक्ष भाव से जब जो दोगे, मैं वर समझ कर ले लूँगी..."

यह आदिम, अराजक, व्यक्ति-परक दृष्टिकोण है। लेकिन यही क्या एक मात्र सभ्य दृष्टिकोण नहीं है, जो हमारे सभ्य जीवन के बोझ के नीचे दबा जा रहा है ?

❀ ❀ ❀

"तुम अपने को अधिक स्वतन्त्र महसूस कर सकोगे" ... स्मृति का दंश !... लेकिन नहीं, मन; इस पर मत अटक, यह व्यर्थ है ! अत्यन्त व्यर्थ ! हमारा जीवन हम से है, उन दूसरों से नहीं, वे हमारे कितने ही निकट क्यों न हों; और हमारी न चाहने की उदारता में ही हमारी स्वतन्त्रता है। पाने में नहीं, न पाने की याद करने में नहीं। पैर की जो छाप सागर-तट की बालू पर बन गयी है, उसे सागर की लहरों में घुल जाने दो, चाहे धीरे-धीरे यों ही, चाहे दरारों में फट कर...

"इसी लिए तुम्हें सागर के किनारे पर मिला, कि शायद अपनी क्षुद्रता यहाँ इतनी प्यारी न लगे—"

और स्मृति ? व्यर्थ, व्यर्थ, व्यर्थ ! क्षमा की पराजय, जीवन की खाज ... जीवन की देन हमें या तो विनयपूर्वक स्वीकार करनी है,—जिस दशा में स्मृति बेकार है; विनय चरित्र का एक अंग है और स्मति

केवल मस्तिष्क का एक गुण—या फिर...अगर हम में विनय नहीं है, हमें स्वीकार नहीं है, तो स्मृति केवल एक कीड़ा है जिस के दंश से फोड़े होते हैं, और हम केवल अपने फोड़े चाटते रहते हैं। फोड़े चाटना क्या सभ्य कर्म है ? सागर का भी अपना विनय है, वह पैरों की छाप मिटाता है, दरारें मिलाता है; सागर का विनय मुग्ध नहीं करता, वह स्वास्थ्य-लाभ को प्रेरित करता है—पैरों की छापें मिटाता हुआ...

"सुधा, मैं सच्चे दिल से कहता हूँ—सागर की कसम खाकर—मेरे मन में कोई कटुता नहीं है। जो कुछ था, या होना चाहा था, उसे जब मिटा दिया तो कटुता क्यों अनिवार्य है ? मेरा अपराध का बोध नहीं मिटा, न मिटेगा—पर तुम जाओ तो क्षमा कर के जाओ—सागर की तरह; और मैं तो—"

उस की आवाज फिर रुक गयी। तभी एक बड़े ज़ोर की छाली आयी—हेमन्त के पैर की छाप को पार करती हुई, आगे बढ़ कर हेमन्त के पैरों को भी लिपट गयी। झाग में खड़े-खड़े उसने लम्बी साँस ली और कहा "सुधा, तुम सुखी रहो।"

सुधा की मुस्कराहट में तीखापन था। उसने पीछे हटते हुए नमस्कार किया और चल पड़ी।

हेमन्त क्षण भर उसे देखता रहा। फिर उसने पैरों की ओर देखा, वह भगोड़ी छाली लौटती हुई उस के पैरों के तले से थोड़ी-सी बालू काट ले गयी थी, और गीली रेत पर पड़े हुए तो सब पैरों की छाप बिलकुल मिट गयी थी—जैसे लिपी-पुती एक नयी वेदिका खड़ी हो...

हेमन्त ने लम्बी साँस ली। फिर जैसे सहसा याद कर के देखा; सुधा दूर पर चली जा रही थी। और अभी तक वह अकेली थी, अब दूर के एक झाऊ के पीछे से एक और व्यक्ति उस के साथ हो लिया और क्षण ही भर बाद कदम से कदम मिला कर चलने लगा। हेमन्त ने पहचाना, वही दूसरा...

पर वह चौंका नहीं। ठीक है। पैरों की छाप बिलकुल मिट गयी

है। मन ही मन उसने सागर को प्रणाम किया।

इसी तरह पैरों की छाप मिट जायगी। सब से पहले उस की। फिर धीरे-धीरे उन दूसरों की . . . सागर आदिम, अराजक, व्यक्ति-परक है, स्वयंसिद्ध और संयत है। सागर सभ्य है...

कविप्रिया

शान्ता—कवि दिवाकर की पत्नी; सुधा, मालती—शान्ता की सहेलियाँ; सुरेश—बन्धु, सुधा का पति; अशोक—बन्धु; दिवाकर—कवि। बालक, माली, बेयरा।

(बँगले के सामने बगीचे के एक भाग में, शान्ता और माली।)

माली : "पानी तो हम बराबर देत रहेन, माँजी। मगर लू—"

शान्ता : (जिसके स्वर में अपार धैर्य और एक स्निग्ध अन्तर्मुखीन भाव है) "रहने दो, माली; ऐसे बहाने मत बनाओ। तुम्हें आदत है सब चीज दैव पर छोड़ने की—"दैव नहीं बरसेगा तो बीज नहीं जमेगा।' ऐसे भी देश होते हैं जहाँ दैव कभी बरसता ही नहीं—वहाँ—वहाँ क्या पौधे ही नहीं होते ?"

माली : (मानों अपने बचाव में) "माँजी—"

[निकट आती हुई हँसती हुई आवाज़ें : मालती, सुधा और सुरेश]

सुधा : वह रही, बगीचे में। शान्ता !"

सुरेश : "नमस्कार, शान्ता भाभी। बागबानी हो रही है ?"

शान्ता : "अरे सुधा—सुरेश भैया ! आइये। (सकपकाती-सी !) मेरे हाथ मट्टी के हो रहें हैं—माली, दौड़कर जरा देवीसरन से कुर्सियाँ डाल देने को कहो तो—"

मालती : "जी हाँ, मेरे तरफ़ तो देखेंगी क्यों श्रीमती शान्ता देवी—उर्फ़ कविप्रिया—"

शान्ता : "ओहो मालती। जरा सामने तो आओ, मैंने तो देखा ही नहीं—"

मालती : "जी यही तो कह रही हूँ। मुझे क्यों देखने लगीं। मैं न कवि न बुलबुल, न गुलाब का फूल—"

शान्ता : (हैरान सी) "आखिर मामला क्या है ?"

सुधा : (धीरे से) "न सही गुलाब का फूल, मालती का सही !"

मालती : (**डपट कर**) "चुप रहो जी ! (**शान्ता से**) अच्छा कविप्रिया देवी जी, पहले तो मिठाई खिलाइये--"

सुरेश : "नाम ठीक रखा है आपने--कविप्रिया देवी। आप को भी कवि होना चाहिये था--"

मालती : "मुझे ख़ाहमख़ाह ? कवि तो जो हैं सो हुई हैं—पूछो न, उनकी देवी जी से !"

शान्ता : "यह पहेली क्या है आखिर ? मालती तुम्हीं बताओ क्या बात है—लेकिन पहले सब लोग बैठ तो जाओ !"

मालती : "अब तुम बनो मत, शान्ता। कल तुम्हारे कविजी सम्मेलन में सभापति रहे, उन के कविता-पाठ की सारे शहर में धूम है--तुमने तो हमें कभी बताया ही नहीं कि वह कविता लिखते भी है ?"

सुरेश : "अच्छा शान्ता भाभी, वह सारे प्रमगीत अकेले तुम्हीं को सुनाते होंगे और छिपा कर रख लेते होंगे ?"

सुधा : "और शान्ताजी तो भला किसी को बताने क्यों लगीं अपनी सूम की दौलत--"

मालती : "तभी तो आज हम दल बाँध कर तुम्हें देखने आये हैं !"

शान्ता : (**कुछ हँस कर**) "तो मुझे क्यों देखने आयीं ? मैं तो वही की वही शान्ता हूँ अनपढ़, बेसमझ—मुझे तो कविता छू भी नहीं गयी। और वह तो इस समय यहाँ हैं नहीं, न जाने कब आयेंगे। खैर तुम लोग बैठो, वह जब भी आवें--"

मालती : "नहीं देवी जी, यों नहीं। हम आप ही को देखने आये हैं, आप के दर्शन करने, आप से कविता सुनने--"

शान्ता : (**मानों अवाक्**) "मुझ से कविता ?"

मालती : "जी हाँ। आप की कविता और आप के उन की कविता। सुर से—ठीक वैसे ही जैसे 'वह' जी आप को अकेले में सुनाते होंगे !"

सुधा : "जी हाँ, वैसे ही।"

शान्ता : "तुम लोग सब पागल हो गयी हो क्या ?"

मालती : "यह लो। अभी अपने को अनपढ़ बता रही थीं, अब हमें पागल बता रही हैं।"

शान्ता : "मैंने कहा तो, वह घर नहीं हैं, आवेंगे तो कविता सुन लेना !"

सुधा : "आप तो घर पर हैं न, यह पहले बताइये।"

शान्ता : " मैं घर पर न हूँगी तो और कहाँ हूँगी—उनके साथ सम्मेलनों में घूमूँगी ? मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता, मैं यहीं ठीक हूँ घर में।"

सुधा : "तो तुम कभी कहीं जाती—"

शान्ता : "न, मुझे क्या करना है बाहर ? यहीं बगीची में टहल लेती हूँ—मुझे बगीची में काम करता अच्छा लगता है।"

सुधा : "बुरी बात है शान्ता ! तुम एकदम बाहर ही नहीं निकलतीं—"

मालती : "हाँ यह तो बहुत बुरा है। जहाँ न जाय रवि वहाँ पहुँचे कवि; और कवि की स्त्री घर से बाहर न निकले ? कविप्रिया बन्दिनी होगी, यह हमने कभी नहीं सोचा था !

शान्ता : "अब बस भी करो, मालती ! बन्दिनी काहे की ? वह कवि हैं, वह बाहर जावेंगे, मुझे घर में कम काम है ?"

मालती : "ओह, मैं समझी ! (सुधा से) बात यह है कि अगर कवि भी घर ही रहेंगे तो उन को काव्य-धारा फूटेगी कैसे ? प्रिया हर वक्त पास रहेगी तो कवि का चिर-विरही हिया तो चुप ही हो जायगा ! और हम संसारियों की तरह प्रिया को साथ ले कर घूमे फिरेगा, सिनेमा देखेगा, तब तो उसकी कविता का स्रोत ही सूख जायगा। प्रिया को निर्वासन दे कर ही तो कवि, कवि बन सकता है—उस का जीवन बलि देकर ही काव्य-साधना कर सकता है।"

शान्ता : "तुम रखो अपना पांडित्य। मैं यह सब कुछ नहीं जानती।"

सुधा : "अच्छा ये बहाने रहने दो अब। यह बताओ कि दिवाकर बाबू—कविजी आवेंगे कब ? हम उन्हीं से उनकी कविता सुन लेंगे।"

शान्ता : "सो मैं क्या जानूँ ? एक बार घर से निकले तो कब लौटेंगे यह भगवान् भी नहीं बता सकते। मालती कह रही थी न, जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि ? सो रवि सुबह का निकला साँझ को घर लौटता ही है, पर कवि का क्या ठिकाना !"

मालती : "तुम रूठती नहीं ?"

शान्ता : "क्यों ? उन्हें कुछ काम रहता होगा—"

मालती : "और तुम्हें कोई काम हो, कहीं जाना हो तो ?"

सुधा : "चाय पी कर गये हैं ?"

शान्ता : **(कुछ रुक कर)** "नहीं, चाय पी कर तो नहीं गये। लेकिन मैं तो घर पर ही हूँ, जब आयेंगे तभी चाय हो जायगी। मुझे तो कहीं जाने-आने का काम होता ही नहीं—यहीं बगीचे में काम कर लेती हूँ, रूठने की बात ही क्या है।"

सुधा : "और रात को आये तो ?"

शान्ता : "तो रात को चाय होगी—भोजन देर से हो जायगा।"

सुधा : "भई वाह ! मानों बच्चा हो—जो मिल जाय उसी में खुश।"

मालती : "लेकिन मुझे तो भई बहुत गुस्सा आता। मैं तो कभी बात भी न करती।"

शान्ता : **(कुछ गम्भीर होकर)** "हाँ भई, तुम्हें शायद गुस्सा आता या न आता तो कम से कम दिखाती जरूर। **(लम्बी साँस के साथ)** लेकिन यहाँ यह सब नहीं चलता। मैं गुस्सा करूँ तो वह दुगुना गुस्सा करेंगे। रूठा वहाँ जाता है जहाँ कोई मनाने वाला हो—जैसे माँ के साथ...माँ के साथ मैं भी बहुत रूठा करती थी...**(सहसा खिलखिला कर)** दीवार के साथ और कवि के साथ भी भला रूठा जाता है ?"

सुधा : "अच्छा, तुम कभी रोती नहीं ? ज़रूर रोती होगी।"

शान्ता : **(थोड़ी देर बाद)** "रोती तो हूँ शायद। लेकिन तुम लोगों की तरह शायद नहीं। कोई मेरे आँसू पोंछ कर मुझे मनावेगा, यह सोच

कर नहीं। कभी रात में अँधेरे में रो लेती हूँगी—अन्धकार को परचाने के लिए... (गला भारी हो आता है)

[बालक का प्रवेश]

बालक : "माँ, माँ मैं जरा साइकल चला लूँ ?"

शान्ता : (सुस्थ होकर) "नहीं बेटा, अब रात में—"

बालक : "हाँ, माँ; यहीं थोड़ी दूर ही रहूँगा—बेयरा को साथ ले जाऊँगा—"

शान्ता : "अच्छा जा ! पर दूर मत जाना।"

बालक : "अहा हा—जायेंगे—जायेंगे !"

[बालक उछलता हुआ जाता है]

शान्ता : (मानों स्वगत) "यह भी मेरे साथ कभी-कभी बहुत रूठता है, मैं मना लेती हूँ।"

सुरेश : "बड़ा अच्छा लड़का है। शान्ता भाभी, तुम्हारा तो मन यही बहलाये रखता होगा।"

शान्ता : "हाँ, सो तो है ही।"

सुधा : "और जो तंग करता होगा सो ?"

शान्ता : "तंग तो बच्चे करते ही हैं, पर उस से कोई तंग होता थोड़े ही है। मैं तो सोचती हूँ, मुन्ने के कारण मुझे दुनिया के हिसाब-किताब से छुट्टी मिली—क्या पाया क्या नहीं पाया इस का लेखा-जोखा रखने की जरूरत नहीं अब मुझे। मैं समझती हूँ कि जीवन जो देता है मैंने पा लिया..."

मालती : "कैसा हिसाब-किताब ?"

शान्ता : "हिसाब-किताब नहीं तो और क्या ! कहने को तो यह सब भावना-आकांक्षा, मन और अध्यात्म की बातें हैं,लेकिन असल में तो हिसाब-किताब ही है न। कितना रंग, कितना उजाला, कितना अँधेरा, कितना प्रकाश, कितनी छाया, कितना प्यार—कितना आराम, कितना परिश्रम जीवन में मिला...जो लोग रोमांस के

पंखों पर उड़ते हैं, वे भी इस हिसाब-किताब को भूलते नहीं। और इस जोड़-बाकी में अगर मुनाफ़ा देखें तो खुश होते हैं, घाटा देखें तो जीवन के प्रति असन्तोष उन्हें होता है। सुधा, तुम क्या सोचती हो मैं नहीं जानती, पर मैं तो भावना के हिंडोले नहीं झूलती। मेरा जीवन शान्त, स्थिर हो गया है क्योंकि मैं प्रिया नहीं, माता हूँ। (**स्वर क्रमशः भावाविष्ट होता जाता है**) मैं स्नेह और आदर की अपेक्षा में रहने वाली नहीं, स्नेह देने वाली हूँ। मैं सुबह से शाम तक जो कुछ करने का है करती जाती हूँ—जागती हूँ, उठती हूँ, खिलाती हूँ, खाती हूँ, देखती हूँ, सुनती हूँ—और मैं किसी चीज़ का, किसी बात का प्रतिवाद नहीं करती। प्रतिवाद कोई किस का करे—जीवन कोई बुझौवल थोड़े ही है, वह सब से पहले अनुभव है!"

सुरेश : (**मानो अधिक गम्भीर बात को हँसी में टालने का यत्न करता हुआ**) "जीवन बुझौवल है कि नहीं, यह तो अलग बात है, पर भाभी, तुम ज़रूर हो।"

शान्ता : (**उसी प्रकार आविष्ट**) "हूँगी। ज़रूर हूँगी—इसी लिए कि मुझमें बुझौवल कहीं नहीं है—मैं सुलझाव ही सुलझाव रह गयी हूँ। 'दो' पहेली है जिस का सुलझाव है 'एक' और 'एक'। लेकिन 'एक'—'एक' भी पहेली है इस लिए कि उसका आगे सुलझाव नहीं है, वह निरी इकाई है—होने और न होने की सीमा-रेखा। उसे सुलझाना चाहने का मतलब है उसे मिटा ही देना।"

सुरेश : (**प्रयास-पूर्वक विषय को बदल देने के लिए**) "शान्ता भाभी, सामने का बगीचा तो देखा, पीछे भी कुछ बना है?।"

शान्ता : (**सँभल कर, बदले हुए स्वर में**) अभी तो बन रहा है। मगर अँधेरे में दीखेगा क्या! (**ज़ोर से**) माली!"

माली : "हाँ, माँजी! का हुकुम है माँजी?"

शान्ता : "उधर क्यारी में पानी लगा दिया है?"

मालती : "हाँ माँजी---"

शान्ता : "देखोगे तुम लोग ? चलो।"

[उधर जाते हुए स्वर]

सुधा : "उधर चबूतरे के आस-पास तो बेला फूला होगा ?"

सुरेश : "अहा, यह करौंदे की झाड़ी तो बड़ी सुन्दर है ! यहीं बैठ कर कविजी कविता लिखते होंगे न ?"

शान्ता : "सो मैं क्या जानूँ कि वह कहाँ बैठ कर लिखते हैं ? लेकिन तुम लोग तो बैठो इस चबूतरे पर।"

सुधा : "तभी तो मैंने तुम से पूछा था कि तुम तो घर पर रहती हो न ?"

मालती : "फिर तुमने शुरू की वही बात ? कवि की प्रिया घर नहीं रहती। घर पर रहे तो वह प्रिया नहीं है। आज तक कभी सुना है कि किसी कवि ने प्रिया को सामने बिठा कर काव्य लिखा हो और वह काव्य सफल हुआ हो ? कवि एक अपार्थिव प्रेम का चित्र मन में लिए उस चित्र से जीवन का मिलान करते हुए चलता है---और जीवन को घटिया पाता है। उस की एक कल्पना की प्रिया होती है जिसे वह सारी दुनिया में ढूँढता फिरता है और कभी पाता नहीं। जीवन में जो प्रिया मिलती है वह तो मानवी है, उस के कल्पनालोक की देवी थोड़े ही है। वह देवी जो सोच सकती है---यानी कवि की कल्पना में---वह कोई पार्थिव प्रिया नहीं सोचती, जो कह सकती है, जैसे-जैसे प्रेम कर सकती है, वह कोई हाड़-मांस की प्रिया क्या कर पायेगी ! तभी तो कवि लोग ऐसे तोता-चश्म होते हैं---अगर उन्हें कल्पना के प्रति सच्चे रहना है तो फिर वास्तव से तो मन फेरना ही होगा, क्योंकि वास्तव तो जिस चीज को वह छूते हैं वही पाते हैं कि निरी मिट्टी है, और मिट्टी को ही प्यार करें तो फिर कल्पना बिचारी क्या हो ? किसी भी बड़े कवि का जीवन ले लो, उस की सारी जिन्दगी एक खोज है जिस का नतीजा केवल इतना है कि 'नहीं। यह नहीं। यह भी नहीं। यह भी नहीं।' इसी कभी

न मिटने वाली खोज को, कभी न बुझनें वाली प्यास को, कोई कूँची से आँकता है, कोई कलम से लिखता है, कोई छन्दों में बाँधता है; और लोग देख-सुन कर कहते हैं 'कितना सुन्दर! कितना मार्मिक! कैसा दिव्य प्रेम! ' कवि को जीवन में आनन्द नहीं मिलता पर यश तो मिलता है, उनकी कीर्ति अमर हो जाती है। पर कवि की स्त्री---मृत्यु के पार अमर होने की बात तो दूर, वह तो जीवन में भी--"

सुधा : "भई मालती, तुमने तो कमाल कर दिया। अब तो तुम्हें किसी मीटिंग में ले जा कर मंच पर खड़ा कर देना चाहिये। ऐसी फुल-झड़ी-सी लगा दी तुमने तो--"

मालती : "तुम्हें तो हर वक्त ठट्ठा ही सूझता है। पूछो न शान्ता से, वह भी तो हमारी तुम्हारी ही उम्र की है; कोई बात है भला कि ऐसी दार्शनिकों की सी बातें करे ? "शान्त, स्थिर—होने और न होने की सीमा-रेखा ! हुँः ! मुझे तो ऐसा गुस्सा आ रहा है इन कवियों पर कि—"

सुरेश : "सो तो दीख ही रहा है। लेकिन अब आप गुस्सा मत कीजिये; चाहें तो इस करौंदे की छाँह में बैठ कर कविता कीजिये। (सुधा से) क्यों जी, अब चलना चाहिए न ?"

सुधा : "हाँ, बड़ी देर हुई। अच्छा शान्ता बहन, फिर आयेंगे कभी—कविजी से कह देना, कविता ज़रूर सुनेंगे।"

सुरेश : "नमस्ते, भाभी।"

शान्ता : "हाँ ज़रूर आना, बहन। वह होंगे तो जरूर सुनायेंगे ही तुम लोगों को। नमस्ते, सुरेश भैया--"

मालती : "मैं भी तो चल रही हूँ भई---कि मुझे छोड़े जा रहे हो ?"

सुधा : (हँसती हुई) "हमने सोचा शायद तुम्हारा व्याख्यान अभी समाप्त न हुआ हो !"

मालती : "अच्छा शान्ता, मेरी किसी बात का गुस्सा मत करना--"

शान्ता : "वाह गुस्सा कैसा। फिर आना !"

मालती : "हाँ। नमस्ते !"

[जाते हैं]

शान्ता : (स्वगत) "अब ? **(धीरे-धीरे गुनगुनाने लगती है)**

"सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया को पन्थ निहारते सब रैंन बिहानी हो।
बिन देखे कल ना परे, मेरी नींद नसानी हो।
सखी मेरी नींद नसानी हो—
पिया को पन्थ निहारते सब रैंन बिहानी हो
रैन बिहानी हो....।"

शान्ता : (सहसा चुप होकर) "आ गये! **(ज़ोर से)** बैरा ! चाय तैयार करो ! अरे नहीं—**(चौंक कर और फिर सुस्थ होकर)** ओह, अशोक !"

अशोक : "पहचानती भी नहीं, दीदी ?"

शान्ता : "मैं समझी थी—"

अशोक : "क्या समझी थीं ?"

शान्ता : "कुछ नहीं। आओ, बैठो।"

अशोक : (बैठता है) "शान्ता दी, अँधेरे में बैठी क्या कर रही थीं ?"

शान्ता : "कुछ नहीं, आकाश देख रही थी। मुझे साँझ के बाद आकाश देखना बहुत अच्छा लगता है। कैसे धीरे-धीरे अन्धकार घिरता आता है और धीरे-धीरे सब कुछ पर छा जाता है... इस जीवन के, इस लोक के सब आकार मिट जाते है एक मौन निःस्तब्धता में, और फिर दूर—कितनी दूर !—उदय हो आते हैं कितने नये लोक और उनके अपने नये आकार ! लोग सूर्यास्त के रंगों को सुन्दर बताते हैं, लेकिन उस से भी सुन्दर होता है सूर्यास्त की भी लालिमा का मिटना—"

अशोक : "रोज़ देखते-देखते ऊबती नहीं, एक ही दृश्य ?"

शान्ता : "ऊब्मा कैसा ? यह मिटने का खेल तो नित नया है—यही तो एक खेल है जो हमेशा नया है। और इसे देखते-देखते इनसान विभोर होकर अपने को निरे जीवन पर छोड़ देता है—हम अपने को जीवन पर छोड़ दे सकते हैं, तभी तो हम जी सकते हैं, उस का हल खोजना ही तो उसे पहेली बनाना है"

अशोक : "दीदी, मैं आया तब तुम शायद गा रही थीं न ? मैं सोचता हूँ, यहाँ चुपचाप बैठ कर गाना सुनूँगा।"

बेयरा : "चाय तैयार है, सा'ब !"

शान्ता : "लो, पहले चाय पियो।"

अशोक : "दीदी, यही तो बात मुझे अच्छी नहीं लगती। यह भी कोई चाय का समय है भला ? और मैं कोई अजनबी तो हूँ नहीं जो खातिर करें—"

शान्ता : "तुम्हीं थोड़े ही पियोगे ? मैं भी तो लूँगी—"

अशोक : "उस से क्या ? रात के नौ बजे तो नौ बजे हैं। इस समय आपने मेरे लिए चाय क्यों मँगायी ?"

शान्ता : "आप के लिए क्यों ? चाय का आर्डर तो मैं आप के आने से पहले दे चुकी थी !"

अशोक : "ओह, तो आप लीजिये। मैं तब तक आप का आकाश देखता हूँ—मैं तो चाय लूँगा नहीं।"

शान्ता : "नहीं, मैं तो चाय केवल साथ के लिए पी लेती हूँ—मुझे भी इच्छा नहीं है। बैरा !"

अशोक : "यह अच्छी रही। आपने चाय मँगायी भी थी, और अब ले भी नहीं रहीं।"

शान्ता : "मैंने अपने लिए नहीं मँगायी थी।"

[बेयरा आता है]

अशोक : "तब ?"

बेयरा : "जी, सा'ब—"

शान्ता : "चाय उठा ले जाओ। और बाबा वापस आ गया है न? साइकल अन्दर रख दिया है?"

बेयरा : "जी। बाबा सोने जाते हैं।"

[ट्रे समेट ले जाता है]

अशोक : "शान्ता दीदी, आप जो गाना गा रही थीं, वही गाइये।"

शान्ता : "मैं क्या गाती हूँ। वह तो यों ही कभी गुनगुनाती हूँ—"

अशोक : "जो हो—"

[शान्ता बाहर की ओर जाती है, आकाश की ओर देखती है। उस का स्वर दूर से आता है]

शान्ता : "अच्छी बात है, मैं तो तारे देखते-देखते कभी गनगुनाया करती हूँ— (धीरे धीरे गाती है)

"सखी मेरी नींद नसानी हो।
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।
बिन देखे कल ना परे, मेरी नींद नसानी हो।
सखी मेरी नींद नसानी हो—
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो
रैन बिहानी हो..."

[गाते-गाते शान्ता का गला भारी हो आता है—फिर आवाज़ सहसा टूट जाती है। एक बार गला साफ़ करने का शब्द; फिर एक कड़ी गाती है, फिर गला रुँधता है और वह सहसा चुप हो जाती है]

अशोक : (सहसा चिन्तित) "क्या बात है, शान्ता दी—"

[बहुत हल्की-सी सिसकी का शब्द]

अशोक : (धीमे, कोमल स्वर से) "शान्ता दी—"

[क्षण भर मौन]

[बाहर से निकट आता ताँगे का शब्द और घंटी]

अशोक : (शान्ता को थोड़ी देर अकेले छोड़ देना उचित समझ कर बहाना ता हुआ-सा) "शान्ता दी, मैं ज़रा मुन्ने को देख आऊँ,

नहीं तो अभी सो जायगा । अभी आया ।"

[बाहर दूरी पर ही कवि का शब्द, क्रमशः निकट आता हुआ]

कवि : "ओह, शान्ता! मुझे अभी तत्काल फिर बाहर जाना होगा, ज़रा जल्दी से एक प्याला चाय दे दोगी—"

शान्ता : (सँभल कर) "जी।"

[भीतर जाती है)

[भीतर से बालक की हँसी का शब्द]

बालक : (भीतर से) "बस, अशोक मामा, गिलगिली मत चलाइये—"

अशोक : "तो तुम बोलते क्यों नहीं ?"

कवि : "अरे कौन, अशोक ? (ज़ोर से) अशोक !"

अशोक : (भीतर से) "आ गये आप ?"

कवि : "अरे यहाँ आओ यार, दो मिनट गप्प ही करें, अभी तो चला जाऊँगा।"

अशोक : (निकट, विस्मित स्वर में) "कहाँ ?"

कवि : "यहीं ज़रा बैठो। चाय पियोगे ?"

अशोक : "नहीं, इस समय नहीं।"

[भीतर से शान्ता के गुनगुनाने का स्वर, जो क्रमशः कुछ स्पस्ट हो जाता है]

शान्ता : (गाती है)

"सखी मेरी नींद नसानी हो
पिया को पन्थ निहारते सब रैन बिहानी हो।
ज्यों चातक घन को रटै, मछरी जिमि पानी हो।
मीरा व्याकुल बिरहनी, सुध बुध बिसरानी हो॥"

कवि : (अर्ध स्वगत) "फिर वही गाना !"

अशोक : "क्यों, आप को गाना अच्छा नहीं लगता ?"

कवि : "नहीं, गाना क्यों न अच्छा लगेगा, पर शान्ता वही एक ही रोने-रोने सुर गाती है" (सहसा चुप हो जाता है)

[शान्ता का स्वर स्पष्ट हो गया है, वह पास आ रही है]

"सखी मेरी नींद नसानी हो।

पिया को पन्थ निहारते सब रैन--"

[गान सहसा बन्द हो जाता है]

शान्ता : "लीजिये, चाय !"

नगा पर्वत की एक घटना

"मेरी समझ में तो समस्या इस से अधिक गहरी है। आप उसे जिस रूप में देख रहे हैं, उतनी ही बात होती तब तो कोई बात न थी।" कप्तान अर्जुन ने समर्थन के लिए कप्तान वासुदेवन् की ओर देखा।

"हाँ, फ़ौजी जीवन आदमी को इतना अनुशासनाधीन बना देता है कि फ़ायर का हुक्म मिलते ही वह गोली दाग देता है, उचित-अनुचित कुछ नहीं सोचता; यह तो कोई इतनी बड़ी बुराई नहीं है। क्योंकि एसी डिसिप्लिन तो हम चाहते ही हैं, और जो चाहा जाय उसका हो जाना क्यों बुरा ?"

"पर चाहना तो बुरा हो सकता है ?" कप्तान चोपड़ा बोले। "क्या आदमी को ड्रिल कर-कर के ऐसा यन्त्र बना देना, कि उस की मारल जजमेंट बिल्कुल बेहोश हो जाय, बड़ा पाप नहीं है ? यही तो फ़ौजी जीवन करता है।"

"इस से किसे इनकार है ? अपनी जजमेंट को दूसरों की जजमेंट के अधीन कर सकना सिपाहीगिरी के लिए ज़रूरी है। लेकिन ऐसा सिर्फ़ फ़ौज में ही तो नहीं होता; यह तो हमें हर क्षेत्र में करना पड़ता है।" वासुदेवन् ने उत्तर दिया।

"और फिर यह वैसे भी किसी पेशे का दोष नहीं, यह तो मानव का ही दोष है कि वह ऐसा करना चाहता है। मानव की मारल जजमेंट की हम चाहे जितनी दुहाई दें, असल में वह इतने गहरे में मारल नहीं है कि उस जजमेंट को दूसरों पर छोड़ने में खुश न हो; उस के लिए यह जजमेंट का मामला एक गले पड़ी आफ़त है, जिसे वह जितनी जल्दी दूसरे के गले डाल सके उतना ही अच्छा। इसी लिए मैं कहता हूँ कि आप समस्या को आसान कर के देख रहे हैं। फ़ौज का पेशा मानव में

कोई नया ऐब पैदा नहीं कर देता, उस में जो सहज दुर्बलता है उस से लाभ उठा कर चलता है। यह बल्कि ज़्यादा बड़ी आलोचना है। यह क्या कम बात है कि छः हज़ार बरस की संस्कृति से—वासुदेवन्, छः हज़ार बरस ठीक है न ?—पैदा हुआ नैतिक बोध छः महीने की फ़ौजी ड्रिल से ऐसा पस्त हो जाय कि हम बिना सोचे समझे चाहे जिसकी जान ले डालें ?"

"नहीं, बोध बिल्कुल तो नहीं मर जाता। ऐसे भी तो केस होते हैं जहाँ फ़ौज गोली चलाने से इनकार कर देती है, जैसे सिविलियनों पर, या औरतों पर—आखिर वह नैतिक बोध ही तो होता है न ?"

"हाँ, मगर वह इस लिए कि डिसिप्लिन में ऐसे अपवाद रखे जाते हैं। शिक्षा में दुश्मन की बात सामने लायी जाती है, और आम तौर पर 'दुश्मन' का अर्थ फ़ौजी ही लिया जाता है। बल्कि सिविलियन शत्रु नहीं है, या कि उसे नरमी से जीता जावे, ऐसी शिक्षा भी दी जाती है।"

"यानी आप कह रहे हैं कि अगर ट्रेनिंग में यह भी होता कि दुश्मन दुश्मन ही नहीं, दुश्मन के सिविलियन और औरत-बच्चे भी दुश्मन हैं, तो उन को भी मारने में फ़ौजी को झिझक न होती ?

"बिल्कुल, और इस सभ्य लड़ाई में इस की मिसालें भी कम नहीं हैं। जर्मनी के कंसेंट्रेशन कैम्पों में—"

"तो क्या नैतिक जजमेंट बिल्कुल मर जाता है ? मगर—"

"मरता है, या बेहोश भी होता है कि नहीं, पता नहीं। कहें कि स्थगित हो जाता है। या दूसरे पर टाल दिया जाता है। और टाल देना मानव-मात्र का सहज स्वभाव है, फ़ौज का उस में कोई हाथ नहीं।"

"मेजर वर्धन, आपकी क्या राय है ?"

वासुदेवन् कुछ कहना चाहते थे। पर मेजर से प्रश्न पूछा गया था, उत्तर के लिए रुके रहे। मेजर वर्धन ने सहसा उत्तर नहीं दिया; अन्य अफ़सरों ने देखा कि वह चुपचाप आगे को झुके हुए आग की ओर स्थिर ष्टि से देख रहे हैं। आग की लपटें जैसे-जैसे उठती-गिरती थीं, वैसे

वैसे उनके चेहरे पर एक अजीब धूप-छाँह खेल उठती थी, उन के चेहरे पर एक क्लान्ति, एक उदासीनता का भाव तो था, पर उसके पीछे जैसे कहीं एक धीर करुणा भी छिपी हुई थी, ऐसी करुणा जो जानती है कि वह अपर्याप्त है, लेकिन फिर भी हार नहीं मानती; जैसे निर्धन माँ, पूस-माघ की सर्दी में अपने सर्वथा अपर्याप्त फटे आँचल को बच्चे पर उढ़ा कर, आँचल के सहारे उतना नहीं जितना अपनी लगन के सहारे उसे ठिठुरने से बचा लेना चाहती हो ..

फ़ौज से छुट्टी पा कर ये परिचित अफ़सर कभी-कभी एक्स-सोल्जर्स क्लब के छोटे कमरे में आ बैठते थे। तीनों कप्तानों ने अपने को सिविलियन जीवन में भी कप्तान कहने के अधिकार का उपयोग किया था; मेजर वर्धन अब अपनी 'मुफ़्ती' 'पोशाक में 'मिस्टर वर्धन' रहना ही पसन्द करते थे पर अभ्यासवश बाकी उन्हें मेजर कह ही जाते थे...

सहसा सन्नाटे में जैसे चौंक कर वह बोले: "मेरी राय ? मेरी राय तो तुम लोग जानते हो। असल में हम लोग युद्ध की ओर ही ध्यान दें, तो ज्यादा अच्छा है, फ़ौजी जीवन के दोष देखने से हमारी दृष्टि स्खलित हो जाती है।"

"लेकिन क्या एक दूसरे में निहित नहीं है ? फ़ौजी जीवन और युद्ध को अलग कैसे किया जाय—युद्ध के लिए ही तो फ़ौजी जीवन है?"

"हाँ, लेकिन यह साध्य और साधन वाले झमेले में पड़ना है। यह ठीक है कि साधन की भी परख होनी चाहिए; अच्छे साध्य के लिए लग कर भी बुरा साधन बुरा है। मगर असल में तो साध्य ही बुरा है। साधन तो शायद—उतना बुरा न भी हो।"

"यानी आप नहीं मानते कि फ़ौजी जीवन आदमी को नीचे खींचता है ?"

"हाँ—और नहीं। अनुशासन उसे मशीन—या कि सधा हुआ पशु या शिशु बनाता है, यह ठीक है। लेकिन एक तो हम इच्छा से यह परिणाम चाहते हैं, जैसा कि वासुदेवन ने कहा। दूसरे, सधा हुआ पशु

मानव से ऐसा बुरा ही है, यह दावा करना दम्भ नहीं है ?"

तीनों ने कुछ चौंकी हुई दृष्टि से मेजर की ओर देखा, मानो कहना चाहते हों, "आप से ऐसी बात की आशा नहीं थी।"

मेजर वर्धन ने कहा: "आप सोचते होंगे कि मैं सिनिकल हो रहा हूँ। नहीं। सचमुच सधे पशु के लिए मेरे मन में सम्मान है और यह भी मैं मानता हूँ कि वह उतना अधिक बुरा नहीं हो सकता जितना कि युद्ध की परिस्थितियों में मनुष्य हो सकता है, और मनुष्य भी कोई विकृत मन वाला खूँखार प्राणी नहीं; सीधा-सादा, भाई-बहिन, जोरू-बच्चों के बीच रहने वाला, दस से छः तक दफ़्तर में—या छः से दस तक खेत में—खटने वाला अत्यन्त मामूली मनुष्य, जैसे कि फ़ौजी आम तौर पर होते हैं। इसी लिए जहाँ आदमी पशु बन जाता है, वहाँ मैं उसे उतना खतरनाक नहीं मानता। फ़ौज की डिसिप्लिन केवल इतना करती है, इस से बदतर कुछ नहीं। लेकिन युद्ध..."

"यह तो ठीक है कि युद्ध जो करता है, वह फ़ौजी जीवन नहीं करता। मगर युद्ध से आदमी के गुण भी तो उभरते हैं..." चोपड़ा ने कहा।

"हाँ, वैसा भी होता है। और यह भी होता है कि जिन के गुण उभरते हैं वे आगे जा कर मर जाते हैं, और जिन के ऐब उभरते हैं वे जान बचा कर घर लौटते हैं। 'हतो वा प्राप्यसे स्वर्गम्' आज भी उतना ही सच है, मगर 'जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'—न मालूम! बल्कि जयी आजकल क्या भोगता है, कोई कह नहीं सकता।"

"लेकिन आप यह क्यों कहते हैं कि मनुष्य पशु से बदतर हो जाता है ?"

"यों तो 'मनुष्य जब पशु होता है तब पशु से बदतर होता है'...यह आपने सुना ही है। क्योंकि पशु पशु हो कर अपने पद पर है, और मनुष्य अपदस्थ, पतित। मगर आप को इस पर आपत्ति क्यों है ? यह बताइये कि जब आप कहते हैं कि मनुष्य सधा हुआ पशु है, तब

आप का अभिप्राय क्या होता है?"

कप्तान अर्जुन धीरे-धीरे बोले: "यही कि वह अपना विवेक छोड़ कर सिर्फ अनुशासन पर चलता है...हुक्म दो 'गोली मारो' तो गोली मार देगा, 'आग में कूदो' तो आग में कूद पड़ेगा। कभी झिझक भी हो सकती है, डर से, पर अगर पशु ठीक सधा है तो डर रहते भी कूद पड़ेगा।"

"और अनुशासन से डर को दबाने के कारण ही फ़ौज में इतने मेंटल केस होते हैं—" चोपड़ा ने दाद दी।

"हाँ। ठीक है। तो सधा हुआ मानव-पशु अपनी सहज इच्छा या विवेक के ऊपर दूसरे की इच्छा या विवेक को मान कर उस के अनुसार चलता है। यानी मानव का जो अपने विवेक को अमल में लाने का कर्तव्य है, उसे वह—चलिये, ताक में रख देता है कुछ काल के लिए। यह फ़ौजी अनुशासन की देन है। पर अगर वह पशु अनुशासन के नाम पर अपने नैतिक बोध को, सदसद्विवेक को ताक में रख दे, और फिर सहज पशु प्रवृत्ति की झोंक में अनुशासन को भी भुला दे...तब? तब तो वह पशु से बदतर है न?"

वासुदेवन् ने तनिक मुस्करा कर कहा: "पशु-प्रवृत्ति में बहने वाला तो पशु ही हुआ; पशु से बदतर कैसे कहेंगे—"

"हाँ, मगर सधा हुआ पशु वह नहीं है; और हम यह मान ले रहे हैं कि अशिक्षित पशु शिक्षित पशु से बुरा है। और युद्ध फ़ौज के शिक्षित पशु को अशिक्षित बना देता है।"

वासुदेवन् ने बात को हल्का करने के लिए कहा, "बर्न्स ने कालेज की शिक्षा की बुराई तो की है, पर फ़ौजी शिक्षा की ओर उस का ध्यान नहीं गया!"

चोपड़ा ने दिलचस्पी से पूछा, "क्या प्रसंग है यह?"

"वह है न—कि अहम्मन्य मूर्ख कालेजों में अपना दिमाग़ खराब

करते हैं—दाखिल होते हैं बछेड़े लेकिन निकलते है पूरे गधे—" ❀

"हाँ !" कह कर चोपड़ा ने ठहाका लगाया।

"मगर एक बात है, बर्न्स ने पशु को और घटिया पशु बनाया, मनुष्य को पशु नहीं।"

"हाँ, क्योंकि वह कालेज की पढ़ाई की बात थी—उस में इस से ज्यादा ताकत नहीं है। मगर जंग—" मेजर वर्धन ने फिर वातावरण गम्भीर कर दिया। फिर मानो उन्हें स्वयं ध्यान आया कि क्लब के सामाजिक वातावरण को हल्का ही रहना चाहिए, और वह सहसा चुप हो गये।

कप्तान चोपड़ा थोड़ी देर उन्हें देखते रहे, मानो सोच रहे हों कि उस मौन को तोड़ना उचित है या नहीं। फिर उन्होंने पूछ ही डाला, "मेजर वर्धन, आप की बात से मैं पूरी तरह कनविंस तो नहीं हुआ, मगर ऐसा लगता है कि आप किसी घटना के प्रणाभ से ऐसा कह रहे है। और घटनाओं का तर्क भी एक अलग तर्क है ही।"

कप्तान अर्जुन भी बढ़ावा देते हुए बोले, "और अपने ढंग का अकाट्य तर्क। सुनाइये, हम सब सुन रहे हैं।"

मेजर वर्धन ने एक बार तीनों की ओर देखा; फिर एक स्थिर दृष्टि से आग की ओर देख कर बोले, "हाँ, घटना का अपना अलग तर्क होता है। जो घटना अभी मेरे ध्यान में आयी थी, वह मेरी बात की पुष्टि करती है या नहीं, न जाने; मगर उसको समझा जा सकता है तो उसी के भीतरी तर्क के आधार पर; नहीं तो इनसान ऐसा अनरीज़नेबल कैसे हो सकता है समझ नहीं आता। आखिर पशु-बुद्धि भी तो बुद्धि है—"

❀ A set of dull conceited hashes
Confuse their brains in college classes,
They gang in stirks and come out asses.
—Robert Burns

थोड़ी देर सन्नाटा रहा। चारों आग की ओर देखते रहें। मेजर वर्धन के चेहरे की रेखाएँ कड़ी हो आयीं, मानो उन की स्थिर दृष्टि आग में कुछ देख रही हो और निश्चलता के जोर से उसे पकड़े रहना चाहती हो...फिर उनकी मुद्रा तनिक-सी पसीजती जान पड़ी, मानो बात कहने का ही निश्चय कर के उन्हें कुछ तसल्ली मिली हो।

"बात कोहीमा की है। यानी ठीक कोहीमा की नहीं, कोहीमा और जसामी के बीच के इलाके की डि-चुङ् के पार जो खुमनुवाटो का शिखर और जंगल है, वहीं की। मैं कोहीमा की इस लिए कहता हूँ कि मैं तब ३३ डिवीज़न के साथ कोहीमा और जुबज़ा के बीच डिव हेडक्वाटर में पड़ा हुआ था।" वह क्षण भर रुके, फिर कहने लगे, "वासुदेवन्, तुम तो आगे थे—और अर्जुन तो डीमापुर में रहे—यह तो तुम्हें मालूम है कि मैं डीमापुर से इंटलिजेंस के लिए आगे गया था—"

"हाँ, वह तो ऐसा गुपचुप कुछ काम था कि हम सब को बड़ा कौतूहल रहा। फिर हम ने सोच लिया कि कोहीमा के पार जापानी लाइन के पीछे जासूसी करने जा रहे हैं। यह तो हमें मालूम था कि नगा स्काउटों की एक टोली तैयार हुई है, और यह भी सुना था कि उस के कुछ जवान आप के साथ जावेंगे—"

"हाँ, था तो गुपचुप ही। बल्कि जो बात बताने जा रहा हूँ, वह भी उसी दर्जे की है—टॉप सीक्रेट। और अगर वह मेरा या हिन्दुस्तानी फ़ौज का सीक्रेट रहा होता तो मैं शायद अब भी उस की बात न करता—पता नहीं अब भी वह कहानी कहना फ़ौजी कानून के खिलाफ़ है कि नहीं। पर जो हो, सुन कर तुम लोग खुद तय करना कि आगे कही जाय या नहीं। मुझे तो यह बात अचानक ही एक अमरीकन कर्नल से पता लगी—हालाँकि थी शुरू में वह मेरी ही बात।"

"आप हमें भड़काने के लिए पहेलियाँ बुझा रहे हैं?"

"नहीं। तुम्हें मालूम है, उन दिनों जापानियों के साथ बहुत से आजाद हिन्दी भी शामिल हो गये थे, इस से अँग्रेजों के मन में बड़ा डर

बैठा हुआ था। भेद-भाव तो यों भी था, पर इस डर से इंटलिजेंस के बहुत से काम सिर्फ़ अंग्रेजों-अमरीकनों को सौंपे जा रहे थे, भले ही हिन्दुस्तानी उस के लिए ज़्यादा उपयुक्त हों। मैं भी जो नगा जासूसों के साथ गया, तो मेरे साथ एक अमरीकी कर्नल भी था, अमरीकी इंटेलिजेंस का, जो जापानी भाषा भी जानता था। और हम गये भी उस इलाके में, जिधर सिर्फ़ जापानी थे—कोहीमा से उत्तर तेहेंम-त्सेमिन्यू वाले इलाके में। दक्षिण में जहाँ यह ख्याल था कि जापानियों के साथ हिन्दी भी हैं वहाँ किसी हिन्दुस्तानी को नहीं भेजा गया—उधर सब ब्रिटिश अफ़सर थे।"

"हाँ।"

"तो इस इलाके में भटकते हुए मुझे एक बात सूझी। उधर का जंगल ऐसा दुर्गम था, और अंगामी नगा जातियों के इलाके में ऐसी खेती-पट्टी कुछ होती नहीं कि जापानी लोग लूट-खसोट कर खाते रहें और टिके रहें। आये तो वे इसी भरोसे थे कि पहले लूट-पाट कर खाते रहेंगे, फिर डीमापुर पर कब्ज़ा हो जायगा तो वहाँ ढेरों रसद जमा होगी ही—हम आखिरी वक्त तक उसे बचाने का लोभ ज़रूर करेंगे। तो मुझे यह सूझा कि नगा पहाड़ियों में नगे तो कन्द-मूल और बूटियाँ खाकर रह भी लें, जापानी तो ये सब बातें जानेगा नहीं; जब नगा गाँवों का थोड़ा बहुत चावल और बकरी-कुत्ते खा चुकेगा तब भूखे पेट बड़ी जल्दी डिमारलाइज़ होगा। और वैसे अर्ध-बर्बर का हौसला जब गिरता है तो धीरे-धीरे फिसलता नहीं, एक दम नीचे आता है। ऐसे में अगर उस में यह प्रचार किया जाय कि वह आत्म-समर्पण कर दे तो उस की जान भी बचेगी और खाना भी मिलेगा, तो—"

"हाँ, विकट लड़का था जापानी। पकड़ा नहीं जाता था—मरता था या आत्मघात कर लेता था। मैंने एक बार पाँच-छः कैदी जापानी देखे—वैसा पस्त जन्तु मैंने कभी नहीं देखा होगा! उन की आँख नहीं उठती थी। उन्हें कैद का दुख नहीं था, यह था कि वह आत्मघात न कर

सकें, पहले पकड़े गये। मगर यह भी बात थी कि उन्हें सिखाया जाता था कि पकड़े न जायें, नहीं तो बड़ी दुर्गत होगी और यह बात उन की समझ में भी आ जाती थी, क्योंकि वे खुद कैदियों की बड़ी दुर्दशा करते थे--कम से कम कई बार तो ज़रूर। जो हो। मुझे यह सूझा कि यहाँ खाइयों में जो दो सौ तीन सौ जापानी कीचड़, मच्छर, जोंकों में पड़े सड़ रहे हैं, तिस पर खाने को चांवल-माँस कुछ नहीं और पीने को गँदला पानी जो पियो और पेचिश से मरो; और एक बड़ी बात यह कि दुश्मन कहीं दीखता नहीं--क्योंकि उस घने जँगल में वहाँ दिन में भी अँधेरा-सा रहता था, दो सौ गज़ दूर पर दुश्मन की खाइयाँ हो सकती थीं, और चिल्लायें तो एक दूसरे की आवाज़ सुन सकते थे।...तो ऐसी हालत में अगर लाउडस्पीकर से जापानियों में प्रोपगेंडा किया जाय तो शायद बहुत असर हो--हत्याकांड भी बचे। मुझे यह विचार ही उन जापानी कैदियों को देख कर आया था, क्योंकि उन्हीं से जापानी बुलवाने की बात सूझी थी।"

"मगर कैदी क्या कभी राज़ी होते ?"

"यह तो कोशिश करने की बात थी। बाद में हुए भी। मैंने उस अमरीकी कर्नल को अपनी योजना बतायी तो उसने भी कहा कि कोशिश कर के देखना चाहिए--उसने यह भी कहा कि उस के साथ दो अमरीकी सार्जेंट हैं जो वैसे तो जापानी हैं मगर अमरीकी नागरिक हैं और अमरीकी फ़ौज में हैं; ये लोग खुद भी ब्राडकास्ट कर सकेंगे और करा भी सकेंगे--और ऐसी तो कई जगहें होंगी जहाँ सामने-सामने खाइयाँ हों। उस के प्रोत्साहन से मैंने योजना बना कर डीमापुर में एरिया कमांडर के पास आगे जी. एच. क्यू. के लिए भेज दी। फिर बैठ कर प्रतीक्षा करने लगा कि आगे कुछ हो। हफ़्ता हुआ, दो हफ़्ते हुए, तीन हफ़्ते हुए--महीना हो गया। मोर्चा सँभल गया, जापानी रुक गये, ३३ डिव हवाई जहाज़ से जोरहाट पहुँचा और आगे बढ़ने लगा; सूने कोहीमा पर दोनों ओर से गोले बरसने लगे। कभी उनके ज़ीरो आकर बम गिरा

गये, कभी हमारे टैंक बढ़े तो कोहीमा के परले मोड़ तक बढ़ते गये, मगर मोड़ से मुड़ते ही पार की पहाड़ी से ऐसे जोर की गोला-बारी होती कि बस। तो हुआ यह कि बीच में कोहीमा कस्बे की पहाड़ियों पर न वे न हम, उधर परली पहाड़ी में ऊपर नगा बस्ती में जापानी, इधर जुब्जा के आगे की जंगल-ढकी पहाड़ी पर हम। और मैं यह सोचता रहा कि जी. एच. क्यू. वाले इतनी देर कर रहे हैं—अमल करने का वक्त तो फिर निकल जायगा। अन्त में मैंने जनरल को कहा कि याद दिलावें।"

"एक महीना तो बहुत होता है सचमुच—"

"रिमाइंडर का जवाब चौथे दिन आ गया।" मेजर वर्धन ने तनिक रुक कर साथियों की ओर देखा। चोपड़ा ने कुछ अधैर्य से कहा, "क्या?"

"कहा गया कि यह योजना 'आइडिया ब्रांच' को भेज दी गयी है। वहाँ उस पर विचार हो जायगा, हमें आगे याद दिलाने या पूछने की ज़रूरत नहीं है।"

"यह खूब रही!"

"और दो हफ़्ते हो गये। अन्त में मैंने समझ लिया कि मेरी योजना व्यावहारिक नहीं समझी गयी। मैंने भी उसे मन से निकाल दिया। इस बीच उस अमरीकी कर्नल से अलग भी हो गया था—डीमापुर वापस बुलाये जाकर वह किसी दूसरे और भी गुपचुप मिशन पर भेज दिया गया था, और मैं ३३ डिव के साथ कर दिया गया था; एडवांस के लिए इलाके की जानकारी उन्हें देने के लिये। ३३ डिव पूरा गोरा डिव था—लड़ाके अच्छे मगर नगा पर्वत के भूगोल और नगा जाति के मामले में बिल्कुल सिफ़र। लेकिन डिव का हरावल जब कोहीमा में घुसा, और दो-तीन दिन में मुर्दों को हटा कर उस मटियामेट ढूह में हम ने किरमिच के वासे खड़े कर लिये, तो हमने पाया कि इधर डीमापुर से एक अमरीकी अस्पताली टोली आयी और इधर ऊपर से बीस-एक नगा बाँकों को साथ लिये वही अमरीकी कर्नल। मुझे मालूम हुआ कि वह पहले तो

डीमापुर से रेल से ही मरियानी चला गया था, वहाँ से मोकोक्चङ् की ओर से नगा पर्वतों में घुसा, पहले आव जासूसों के साथ, फिर अंगामियों के; और उधर से बढ़ता हुआ लोङ्सा से दक्खिन को उतरता हुआ चिपोकेटामी से फाकेकेड्जूमी की ओर जा रहा था, खुइ-वी तक गया भी था, लेकिन उस के आगे की स्थिति स्पष्ट नहीं थी इस लिए लौट आया। अब अगर ३३ डिव कोहीमा के पूरब जसामी वाली सड़क से बढ़ेगा तो बीच के इलाके का महत्व भी नहीं; जापानी या तो पीछे हटेगा या बीच में फँस जायगा, और अंगामी फिर किसी को छोड़ने के नहीं—एक तो यों ही वे परदेसी को धँसने नहीं देते, फिर जिसने उन के घर जलाये हों, खलिहान लूटे हों, औरतों को बेइज्ज़त किया हो उन को तो वह भून कर खा जायेंगे। बातचीत के सिलसिले में मैंने अपनी योजना की बात छेड़ी, और कहा कि जी. एच. क्यू. वाले भी अजीब हैं, जहाँ छः हफ्ते आइडिया ब्रांच एक आइडिया को सेती रहती है। कर्नल ने एक तीखी नज़र मुझ पर डाल कर कहा, 'ओ, फ़र्गेट इट् वर्धन।' मैंने फिर कहा, 'ख़ैर, आइडिया तो अब गया ही, पर आखिर जी. एच. क्यू. का संगठन क्या है ? न ही अच्छा हो आइडिया, एक बार आज़मा कर तो देखते ? फिर मैंने खुद आगे जा कर प्रयोग करने के लिए वालंटियर किया था !' अब की बार उसने और भी निश्चयात्मक स्वर में कहा, 'ऑः पाइप डाउन !' और मेरे ज़िद करने पर बोला 'वह आइडिया सड़ा हुआ था—इट स्टैंक !'

"मुझे अचम्भा हुआ, कुछ धक्का भी लगा। मैंने कहा, 'कर्नल, जब मैंने पहले आप को बताया था तब तो आप को वह ऐसा सड़ा हुआ नहीं मालूम हुआ था—'

"अब की बार उसने फिर मेरी ओर तीखी दृष्टि से देखा, और पूछा, 'तुम्हें सचमुच नहीं मालूम कि उस आइडिया का क्या हुआ ?' मैंने और भी विस्मय से कहा, 'नहीं तो—'

"तब वह बोला, 'आलराइट, आई' लटेल यू। वैसे जितना सीक्रेट

वह तब था जब तुमनें बताया था, उस से ज्यादा सीक्रेट अब हो गया है–क्योंकि—वह आज़माया जा चुका—'

"मैं सन्नाटे में आ गया। कब ? '—और—असफल हुआ।'

"मैंने पूछा, 'आप को कैसे मालूम है ?' बोला, 'वही मेरा हुश-हुश मिशन था।' "

तीनों श्रोताओं ने चौंक कर कहा, "रीयेली, मेजर वर्धन! ऐसी बात थी !"

"हाँ। मैं हक्का-बक्का एक मिनट उस की ओर देखता रहा। फिर मैंने कहा, "मेरी कुछ समझ में नहीं आया, कर्नल। शुरू से कहिये।"

"वह कहने लगा, 'हाँ शूरू से ही कहता हूँ। वैसे शुरू तो तुम्हीं जानते हो; तुम जो सोच रहे हो कि आइडिया ब्रांच वाले गुम हो कर बैठ रहे, वह बात नहीं थी। लेकिन—' वह थोड़ा-सा झिझका लेकिन मैं उसका भाव ताड़ गया। मैंने कहा, 'ओह, मैं समझा। शायद उन्होंने सोचा कि इस आइडिया की जाँच हिन्दुस्तानी को नहीं सौंपनी चाहिए। यही न ?'

" 'हाँ, मुझे डर है कि यही। जो हो, मुझे यही आज्ञा मिली। इधर से तो मोकोक्चङ् गया, वहाँ आदेश मिला। उधर से जो फ़ौजें आगे बढ़ रही थीं, सब ब्रिटिश ही थीं, थोड़ी सी अमरीकी टुकड़ियाँ थीं, बस। उन के साथ बढ़ते हुए हम साटाखा से नीचे खुइ-वी पहुँचे, खुइ-वी के पास ही खुमनुबाटो शिखर है और उस की ढाल पर भारी जंगल। दूसरी पार जुलहामी में और साथाजूमी में जापानी थे, यह हमें मालूम था, पर जंगल में अजीब खिचड़ी थी। कहीं हमारी खाइयाँ, कहीं दुश्मन की, हमें तो कुछ पता न लगता पर वे अंगामी जवान तो जैसे हवा सूँघ कर दुश्मन पहचानते थे, उन्हीं के भरोसे हम बढ़ते थे। यानी आइडिया की जाँच के लिए वह आइडियल जगह थी।'

"मेरा कुतूहल बढ़ता जा रहा था। मैंने पूछा, 'फिर...जाँच हुई ?'

"हाँ, हुई।' उसने कहा; फिर कुछ सोचते हुए, 'मगर कैसी जाँच !

यों तो खैर बहुत ठीक जगह थी। इधर जहाँ हमने लाउडस्पीकर फ़िट किये, वहाँ टामियों की खाई थी। दो कम्पनियाँ सात दिन से उस खाई में थी... चार दिन से बारिश होती रही रही थी और उनकी हालत ऐसी हो रही थी कि कुछ पूछो मत। तुम्हें तो कुछ खुद ही अनुभव है––कह कर वह थोड़ा हँस दिया, क्योंकि कीचड़ से लदफद कहीं रुक कर सब कपड़े उतार कर जोंकें ढूँढने का काम हम साथ कर चुके थे। मच्छरसे तो मच्छर क्रीम बचा लेती, पर कीचड़ और जोंक से बचाव नहीं था! फिर उसने कहना शुरू किया, "टामियों की हालत देख कर मैंनें उन्हें बताया कि हम जापानियों को सरेंडर करने को कहने वाले हैं––मैंने सोचा कि इससे उन के ऊबे और हारे हुए मन को कुछ सहारा मिलेगा। सात दिन से वहाँ पड़े-पड़े उनका खाना-पीना-सोना सब खाई में ही हो रहा था, इतने दिन में उन्हें एक भी जापानी नहीं दीखा था। लेकिन बाहर निकल कर आगे बढ़नें या झाँकने की भी सख्त मनाही थी क्योंकि यह सब जानते थे कि सामने बहुत पास दुश्मन है। जापानी की घात में बैठे सड़ रहे हैं, पर जापानी है कि दीख कर नहीं देता, यही हाल था। उधर जापानियों का भी ठीक यही हाल होगा, यह तय बात थी। बल्कि बदतर, क्योंकि हमारी लाइन में कम से कम रसद-पट्टी तो ठीक-ठीक थी, और वे कमबख्त खाने-पीने से भी लाचार थे––उनकी सप्लाई सर्विस ही नहीं थी! मैंने लाउडस्पीकर लगा दिये, और एकाएक पूरे ज़ोर से जापानी में ब्राडकास्ट शुरू हो गया।'

"मैंने पूछा, 'फिर? क्या असर हुआ?' वह बोला, 'पहले तो आवाज़ होते ही ज़ोरों से मशीन गनों से गोलियों की बौछार हुई। इसका इमकान ही था, हम ने खाई से दूर-दूर दो-तीन लाउडस्पीकर लगाये थे, कभी कोई बोलता था कभी कोई। फिर धीरे-धीरे बौछार कुछ मद्धिम पड़ी, मानो अनमनी-सी हो गयी––जैसे वे बीच-बीच में सुन रहे हों। हमनें और जोरों से चिल्लाना शुरू किया––तुम हार गये, तुम्हारी मौत निश्चित है, गोली से नहीं तो भूख और बीमारी से,

जोकों से खून चुसवाना सिपाही का काम नहीं है, हथियार डाल कर कर इधर चले आओ ! इधर तुम्हारी जान भी बचेगी, खाइयों से छुट्टी भी मिलेगी, अच्छा खाना मिलेगा—जो आत्म-समर्पण करेगा उसकी प्राण-रक्षा की हम शपथ लेते हैं, वगैरह। इधर कम्पनी कमांडरों को बता दिया गया था कि जो जापानी आत्म-समर्पण करने आयें—निहत्थे या हाथ उठा कर—उन्हें आने दिया जाय, बन्दी कर के आराम से रखा जाय, और फिर उन्हीं से आगे ब्राडकास्ट कराया जाय।"

मेजर वर्धन साँस लेनें रुके। फिर उन्होंने जैसे जागते हुए पूछा, "तुम लोगों का क्या ख्याल है—अपील का क्या असर हुआ ?"

वासुदेवन् ने कहा, "मेरी समझ में तो असर होना चाहिए था—पर आप तो बता चुके हैं कि वह नाकामयाब हुई थी।"

मेजर वर्धन फीकी हँसी हँसे। "हाँ, असर हुआ, जोरों का असर हुआ। नाकामयाब वह अपील नहीं—मेरी योजना हुई थी।"

तीनों प्रतीक्षा में चुप रहे। मेजर वर्धन फिर कहने लगे। "कर्नल मोज़ ने—यही उस अमरीकी का नाम था—मुझे बताया, एक घंटे के हुल्लड़ के बाद राइफ़लें ऊपर उठाये दो सौ जापानीं सहसा खाई में से निकल आये और आगे बढ़ने लगे। मुझे स्वप्न में भी उम्मीद नहीं थी कि इतनी जल्दी इतना असर होगा—बाद में मालूम हुआ कि सामने की खाई में कुल इतने ही आदमी थे...दो-तीन अफ़सरों ने आत्म-समर्पण का विरोध किया था पर उनको जापानियों ने मार डाला और बाकी पीछे भाग गये दूसरी खाई में—जापानी जंगल की ओट से निकल कर सामने दीखने लगे।

"मैं नें कहा, 'यह तो आश्चर्य-जनक सफलता रही !' वह बोला, 'हाँ... या कि रहती।' और चुप हो गया। मैंने पूछा, 'क्या मतलब ?' तो थोड़ा रुक कर बोला, 'जैसे ही उनकी मटमैली हरी वर्दी जंगल की हरियाली से अलग पहचानी गयी, और मैंने खुशी से भर कर कहा कि देखो, वह आ रहे हैं, वैसे ही एक अनहोनी घटी। टामियों की पूरी कतार ने

बिना हुक्म के बल्कि हुक्म के खिलाफ़, खट् से सब-मशीन-गनें उठायीं और दनादन दाग दीं !'

"मैंने कहा, 'हैं ?' और कर्नल की ओर देखता रह गया। उसने स्थिर दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए कहा, 'हाँ। शिस्त लेने की बात ही नहीं थी, पूरी कतार सामने थी, अभी मैं समझ भी नहीं सका था कि हुआ क्या, कि सब जापानी चित हो गये--दो सौ के दो सौ। बहुत से तो एक साँस भी न खींच पाये होंगे, कुछ एक-आध बार कराह सके, दो-एक सिर्फ़ ज़ख्मी हुए थे और बाद में अस्पताल में मरे। पर उस वक्त सब साफ़ हो गया।'

"मैंने पूछा, 'मगर यह हुआ कैसे ?' वह बोला 'अब कैसे क्या बताऊँ। ब्रिटिश आर्मी की डिसिप्लिन बहुत अच्छी है; सब से अच्छी। मगर स्थिति की कल्पना करो : वैसे में जापानी की भावना पर भी गोली दाग देना एक आटोमैटिक ऐक्शन था...वह हुक्म अदूली है, यह किसी के ध्यान में नहीं आया होगा। और विश्वासघात है, यह तो किसी को सूझा भी नहीं होगा !' वह थोड़ी देर चुप रहा। फिर बोला, 'लेकिन--इस तरह योजना फ़ेल कर गयी--दुबारा मौका नहीं मिला। हमने फिर भी कोशिश की, मगर विश्वास उठ गया था। हर अपील पर और ज़ोर की बौछार होती, हमारे लाउडस्पीकर भी उड़ा दिये गये। हमारी रिपोर्ट पर कमांड से हुक्म आया कि आइडिया ठप्प है, और इस प्रयोग का कहीं जिक्र न किया जाय।' मैं सुन कर चुप रह गया...मेरे आइडिया का क्या हुआ था, मेरी समझ में आ गया।"

मेजर वर्धन चुप हो गये। तीनों साथी थोड़ी देर तक प्रतीक्षा करते रहे, फिर वासुदेवन् ने कहा, "मैं सोचता हूँ, उन जापानियों के मन की क्या हालत रही होगी उस वक्त।"

अर्जुन ने बात काट कर कहा, "उन की ही क्यों,टामियों की मानसिक अवस्था भी स्टडी के लायक रही होगी--उस वक्त भी, और फ़ौरन बाद भी जब उन्हें मालूम हुआ होगा कि अपनी बेवकूफी से ही लड़ाई कुछ और

लम्बी हो गयी---या कम से कम उनकी मुसीबत---"

मेजर वर्धन ने कहा, "हाँ। जापानियों के मन की हालत की कल्पना कम मुश्किल है। टामियों की अधिक मुश्किल!"

सहसा चोपड़ा ने कहा, "लेकिन मेजर, अगर कहानी इतनी ही है तो इस का हमारी बहस से क्या सम्बन्ध है?"

वर्धन ने मानो बात न सुनी हो, अपनी हे बात के सिलसिले में वह कहते गये, "लेकिन कल्पना ज्यादा मुश्किल इस लिए नहीं, है कि हम टामियों के मन की हालत कम जानते हैं और जापानियों की अधिक। बल्कि इस से उल्टा। जहाँ ज्ञान कम होता है वहाँ कल्पना सहज होती है टामियों की मनोदशा की कल्पना इस लिए मुश्किल है कि हम उसे ठीक-ठीक जानते हैं---एक दम ठीक, अलजेब्रा की इक्वेशन की तरह।"

चोपड़ा ने आग्रह किया, "यह तो और पहेली है। लेकिन हमारी बहस---"

मेजर वर्धन ने कहा, "ओ, हाँ, हमारी बहस! हाँ, जो जापानी आये वे---पशु थे, सधे हुए पशु; यन्त्र की अपील थी, सुनने वाला भी यन्त्र था---विवेक सोया या मरा या स्थगित जो कह लो था; भूख, नींद, सूखे कपड़े की आस, प्राणों का आश्वासन...ये उस पशु को खींच लाये। ठीक है न?"

"वैसी परिस्थिति में आत्स-समर्तण अस्वाभाविक तो नहीं है---"

"वहीं तो। वही तो। एक दम स्वाभाविक है। इसी लिए तो मैं कह रहा हूँ, पशुवत्, विवेक से परे। लेकिन टामियों का कर्म---वह-तो सधे हुए पशु का नहीं था? उसे क्या कहोगे?"

सब थोड़ी देर चुप रहे। फिर मेजर वर्धन ने ही कहा "स्वाभाविक वह भी था---इसलिए पशु-कर्म उसे भी कह सकते है। लेकिन अनुशासन से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था, और प्राण-रक्षा से भी नहीं था कि-प्राण रक्षा वाला पशुतर्क वहाँ लगाया जा सके।"

"यान्त्रिक तो उस कर्म को कह सकते है ---जैसे आँख के पास छकु

आने से आँख झपकती है हमारे बिना चाहे, वैसे ही यह भी अनैच्छिक--

"हाँ--और आँख के झपकने को आप डिसिपिलन से नहीं दबा सकते, हैं न ? अगर इस तरह गोली दाग देने को आप उस लेवल पर ले जा रहे हैं, तब तो मुझ से भी आगे जा रहे है...मुझे और कुछ कहना नहीं है। फ़ौजी जीवन में आदमी विवेक छोड़ कर अनुशासन के सहारे चलता है, और युद्ध का दबाव उसे अनुशासन से भी परे ले जाता है--उस स्थिति को मैं क्या नाम दूँ ?"

थोड़ी देर चुप रह कर मेजर वर्धन उठ खड़े हुए। खड़े-खड़े बोले, "उस के लिए नाम नहीं है। मेरा ख्याल है कि नाम जिस भाषा में होता वह भाषा हम लोग नहीं जानते।"

तीनों ने कौतूहल से उन की ओर देखा। वह फिर कहने लगे, "हमारी भाषा--यह विवेक की भाषा--बस्ती-गांव की भाषा है। पशु की भाषा उस का अर्थहीन चीखना-चिल्लाना है--उस में अर्थ नहीं है पर अभिप्राय हो सकता है। उस अभिप्राय को समझने के लिए हमें दो-चार-छः-आठ या चलो बीस हज़ार बरस की संस्कृति को भूलना यथेष्ट है। मगर जिस भाषा में जंगल में पेड़ पेड़ से बोलता हैं, पत्ती-पत्ती मर्मर कर उठती है--उस भाषा को क्या हम जानते हैं ? जान सकते हैं ? उसे समझने के लिए हज़ारों बरस की सांस्कृतिक परम्परा को नहीं, लाखों-करोड़ों बरस की जैविक परम्परा को भी भूलना ज़रूरी है। आदम-हौवा के युग में नहीं, कच्छ, मछली और सूअर के अवतारों के युग में जाना ज़रूरी है--सूअर के दाँत पर जो धरती टँगी हुई थी--बल्कि उस में भी नहीं, वह सूअर जिस कीच में खड़ा था उस में।"

मेजर वर्धन का स्वर आविष्ट था, उसकी गरमी तीनों साथियों को छू रही थी। मगर अँगीठी की आग ठंडी पड़ गयी थी, मेजर का चेहरा अँधेरे में था; और तीनों एक हल्की-सी सिरहन से काँप गये।

गैंग्रीन

दोपहर में उस सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मँड़रा रही हो, उस के वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था...

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देख कर, पहचान कर उस की मुरझायी हुई मुख-मुद्रा तनिक से मीठे विस्मय से जागी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा, "आ जाओ।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उस के पीछे हो लिया।

भीतर पहुँच कर मैंने पूछा, "वे यहाँ नहीं है ?"

"अभी आये नहीं, दफ़्तर में है। थोड़ी देर में आ जायेंगे। कोई डढ़-दो बजे आया करते हैं।"

"कब के गय हुए हैं ?"

"सबेरे उठते ही चले जाते है .."

मैं "हूँ" कह कर पूछने को हुआ, "और तुम इतनी देर क्या करती हो ?" पर फिर सोचा आते ही एकाएक प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लायी, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा, "नहीं, मुझे नहीं चाहिए।" पर वह नहीं मानी, बोली, "वाह। चाहिए कैसे नहीं ? इतनी धूप में तो आये हो। यहाँ तो..."

मैंने कहा, "अच्छा लाओ मुझे दे दो।"

वह शायद 'ना' करने वाली थी, पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज सुन कर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और

घुटनों पर हाथ टेक कर एक थकी हुई 'हुँह' कर के उठी और भीतर चली गयी।

मैं उस के जाते हुए, दुबले शरीर को देख कर सोचता रहा—यह क्या है...यह कैसी छाया-सी इस घर पर छायी हुई है...

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परस्पर सम्बन्ध सख्य का ही रहा है, हम बचपन से इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढ़ाई भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी, और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या बड़-छोटेपन के बन्धनों में नहीं घिरा...

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इस से पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी, अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इस से कोई परिवर्तन उस में आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, यह मैंने अभी तक सोचा नहीं था, किन्तु अब उस की पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छायी हुई है...और विशेषतया मालती पर...

मालती बच्चे को ले कर लौट आयी और फिर मुझ से कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गयी, मैंने अपनी कुर्सी घुमा कर कुछ उस की ओर उन्मुख होकर पूछा, "इस का नाम क्या है?"

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया, "नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं।"

मैंने उसे बुलाया, "टिटी, टिटी, आजा," "पर वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा हो कर कहने लगा "उहुँ-उहुँ-उहुँ-ऊँ..."

मालती नें फिर उस की ओर एक नज़र देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखनें लगी...

काफ़ी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक तो वह मौन आकस्मिक ही था,

जिस में मैं प्रतीक्षा में था कि मालती कुछ पूछे, किन्तु उस के बाद एकाएक मुझे ध्यान हुआ, मालती ने कोई बात ही नहीं की...यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसा हूँ, कैसे आया हूँ...चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वह बीते दिन भूल गयी ? या अब मुझे दूर—इस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है ? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती ..पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिए...

मैंने कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा, "जान पड़ता है, तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई—"

उसनें एकाएक चौंक कर कहा, "हूँ ?"

यह 'हूँ' प्रश्न-सूचक था, किन्तु इस लिए नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थी, केवल विस्मय के कारण। इस लिए मैंने अपनी बात दुहरायी नहीं, चुप बैठ रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उस की ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी, किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसनें आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा, उन आँखों में कुछ विचित्र-सा भाव था, मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमंडल को पुन: जगा कर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की, और चेष्टा में सफल न हो रहा हो...वैसे जैसे बहुत देर से प्रयोग में न लाये हुए अंग को व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता ही नहीं है, चिर-विस्मृति में मानों मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) उठ नहीं सकता...मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो,वह उसे उतार कर फेंकना चाहे, पर उतार न पाये...

तभी किसी ने किवाड़ खटखटाये, मैंने मालती की ओर देखा; पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह

शिशु को अलग कर के उठी और किवाड़ खोलने गयी।

वे, यानी मालती के पति आये, मैंने उन्हें पहली बार देखा था, यद्यपि फ़ोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करनें आँगन में चली गयी, और हम दोनों भीतर बैठ कर बात-चीत करने लगे, उनकी नौकरी के बारे में, उन के जीवन के बारे में, उस स्थान के बारे में, और ऐसे अन्य विषयों के बारे में जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बन कर...

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वह एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेन्सरी के डाक्टर हैं, उसी हैसियत से इन क्वार्टरों में रहते हैं। प्रातः काल सात बजे डिस्पेन्सरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं, उस के बाद दोपहर भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घंटे फिर चक्कर लगाने के लिये जाते है, डिस्पेन्सरी के साथ के छोटे से अस्पताल में पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य ज़रूरी हिदायतें करने...उन का जीवन भी बिल्कुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है, नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज़, वही हिदायतें, वही नुस्खे, वही दवा-इयाँ वह स्वयं उकताये हुये है, और इस लिए और साथ ही इस भयंकर गर्मी के कारण वह अपनें फुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते हैं...

मालती हम दोनों के लिए खाना ले आयी। मैंने पूछा, "तुम नहीं खाओगी? या खा चुकी?"

महेश्वर बोले, कुछ हँस कर, "वह पीछे खाया करती हैं..."

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं, इस लिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी!

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देख कर बोले, "आप को तो खाने का मज़ा क्या ही आयेगा, ऐसे बेवक्त खा रहे हैं?"

मैंने उत्तर दिया, "वाह। देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है, भूख बढ़ी हुई होती है, पर शायद मालती बहन को कष्ट होगा।"

मालती टोक कर बोली, "उँहु, मेरे लिए तो यह नयी बात नहीं है...रोज़ ही ऐसा होता है .."

मालती बच्चे को गोद में लिये हुए थी। बच्चा रो रहा था, पर उस की ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

मैंने कहा..."यह रोता क्यों है ?"

मालती बोली "हो ही गया है चिड़चिड़-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।" फिर बच्चे को डाँट कर कहा, "चुप कर।" जिस से वह और भी रोने लगा, मालती ने भूमि पर बैठा दिया और बोली..."अच्छा ले, रो ले।" और रोटी लेने आँगन की ओर चली गयी।

जब हमने भोजन समाप्त किया तब तीन बजने वाले थे, महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक दो चिन्ता-जनक केस आये हुए हैं, जिनका आपरेशन करना पड़ेगा...दो की शायद टाँग काटनी पड़ें, गैंग्रीन हो गया है ..थोड़ी ही देर में वह चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आयी और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा, "अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।"

वह बोली, "खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है," किन्तु चली गयी। मैं टिटी को हाथ में ले कर झुलाने लगा, जिस से वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर...शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका, मैंने सुना, मालती वहीं आँगन में बैठी अपने-आप ही एक लम्बी-सी थकी हुई साँस के साथ कह रही है, "तीन बज गये..." मानो बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो...

थोड़ी ही देर में मालती फिर आ गयी, मैंने पूछा, "तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था ? सब कुछ तो..."

"बहुत था।"

"हाँ, बहुत था, भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ

होगा नहीं, यों ही रौब तो न जमाओ कि बहुत था।" मैंने हँस कर कहा।

मालती मानो किसी और विषय की बात कहती हुई बोली, "यहाँ सब्जी-वब्जी तो कुछ होती नहीं, कोई आता-जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं, मुझे आये पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाये थे वही अभी बरती जा रही है..."

मैंने पूछा, "नौकर कोई नहीं है?"

"कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिन में हो जाय।"

"बर्तन भी तो तुम्ही मांजती हो?"

"और कौन?" कह कर मालती क्षण भर आँगन में जाकर लौट आयी।

मैंने पूछा, "कहाँ गयी थीं?"

"आज पानी ही नहीं है, बर्तन कैसे मँजेंगे?"

"क्यों पानी को क्या हुआ?"

"रोज़ ही होताहै ...कभी वक्त पर तो आता नहीं, आज शाम को सात बजे आयेगा, तब बर्तन मँजेंगे।"

"चलो तुम्हें सात बजे तक तो छुट्टी हुई," कहते हुए मैं मन ही मन सोचने लगा, "अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई?"

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था; पर मेरी सहायता टिटी ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा, मैंने जेब से अपनी नोटबुक निकाली और पिछले दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा, तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं, और बोली, "यहाँ आये कैसे?"

मैंने कहा ही तो, "अच्छा, अब याद आया ? तुम से मिलने आया था, और क्या करने ?"

"तो दो-एक दिन रहोगे न ?"

"नहीं, कल चला जाऊँगा, ज़रूरी जाना है।"

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गयी। मैं फिर नोटबुक की तरफ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने किन्तु यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ, पर बात भी क्या की जाय ? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रह कर भी मानो मुझ भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती...

मैंने पूछा, "तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं ?" मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

"यहाँ !" कह कर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कह रही थी, 'यहाँ पढ़ने को है क्या ?'

मैंने कहा, "अच्छा, मैं वापस जा कर जरूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा..." और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया...

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा, "आये कैसे हो, लारी में ?"

"पैदल।"

"इतनी दूर ? बड़ी हिम्मत की।"

"आखिर तुम से मिलने आया हूँ।"

"ऐसे ही आये हो ?"

"नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर। मैंने सोचा, बिस्तरा ले ही चलूँ।"

"अच्छा किया, यहाँ तो बस..." कह कर मालती चुप रह गयी, फिर बोली, "तब तुम थके होगे, लेट जाओ।"

"नहीं, बिल्कुल नहीं थका।"

"रहने भी दो, थके नहीं, भला थके हैं ?"

"और तुम क्या करोगी ?"

"मैं बर्तन माँज रखती हूँ, पानी आयेगा तो धुल जायँगे।"

मैंने कहा, "वाह !" क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं...

थोड़ी देर में मालती उठी और चली गयी, टिटी को साथ ले कर। तब मैं भी लेट गया और छत की ओर देखने लगा...मेरे विचारों के साथ आँगन से आती हुई बर्तनों के घिसने की खन-खन ध्वनि मिल कर एक विचित्र एकस्वर उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा...

एकाएक वह एकस्वर टूट गया मौन हो गया। इस से मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा...

चार खड़क रहे थे और इसी का पहला घंटा सुन कर मालती रुक गयी थी...

वही तीन बजे वाली बात मैंने फिर देखी, अब की बार और भी उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिल्कुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन, नीरस यन्त्रवत्—वह भी थके हुए यन्त्र की भाँति स्वर में कह रही है, "चार बज गये..." मानों इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनने में ही उस का मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडोमीटर यन्त्र-वत् फ़ासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त स्वर में कहता है : (किस से !) कि मैंने अपने अमित शून्यपथ का इतना अंश तय कर लिया...

न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गयी...

तब छः कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली, और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उन के साथ ही बिस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने को ही था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंनें हाथों से मुँह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा, "आपने बड़ी देर की ?"

उन्होंने किंचित ग्लानि-भरे स्वर में कहा, "हाँ, आज वह ग्रैंग्रीन का आपरेशन करना ही पड़ा, एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा, "ग्रैंग्रीन कैसे हो गया ?"

"एक कांटा चुभा था, उसी से हो गया, बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँ के..."

मैंने पूछा, "यहाँ आप को केस अच्छे मिल जाते हैं ? आय के लिहाज से नहीं, डाक्टरी के अभ्यास के लिए ?"

बोले, "हाँ, मिल ही जाते हैं, यही ग्रैंग्रीन, हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है, नीचे बड़े अस्पतालों में भी..."

मालती आँगन से ही सुन रही थी, अब आ गयी, बोली, "हाँ, केस बनाते देर क्या लगती है ? कांटा चुभा था, इस पर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डाक्टरी है ? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास !"

महेश्वर हँसे, बोले, "न काटें तो उस की जान गवायें ?"

"हाँ, पहले तो दुनिया में काँटे ही नहीं होते होंगे ? आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से मर जाते हों..."

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिये, मालती मेरी ओर देख कर बोली, "ऐसे ही होते हैं डाक्टर, सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है। म तो रोज ही ऐसी बातें सुनती हूँ। अब कोई मर-मु र जाय तो ख्याल ही नहीं होता। पहले तो रात रात-भर नींद नहीं आया करती थी।"

तभी आँगन में खुले हुए नल ने कहा...टिप, टिप, टिप, टिप-टिप,-टिप...

मालती ने कहा, "पानी" और उठ कर चली गयी। खन खनाहट से हमने जाना, बर्तन धोये जाने लगे हैं...

टिटी महेश्वर की टाँगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था,

अब एकाएक उन्हें छोड़ कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर ने कहा, "उधर मत जा !" और उसे गोद में उठा लिया, वह मचलने और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा ।

महेश्वर बोले..." अब रो-रो कर सो जायगा, तभी घर में चैन होगी ।"

मैंने पूछा, "आप लोग भीतर ही सोते हैं ? गर्मी तो बहुत होती है ?"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर यह लोहे के पलंग उठा कर बाहर कौन ले जाये ? अब के नीचे जायेंगे तो चारपाइयाँ ले आयेंगे ।" फिर कुछ रुकर बोले, आज तो बाहर ही सोयेंगे । आपके आने का इतना लाभ ही होगा ।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था । महेश्वर ने उसे एक पलंग पर बिठा दिया, और पलंग बाहर खींचने लगे, मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ," और दूसरी ओर से पलंग उठा कर निकलवा दिये ।

अब हम तीनों...महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलंगों पर बैठ गये और वार्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पा कर उस कमी को छुपाने के लिए टिटी से खेलने लगे, बाहर आ कर वह कुछ चुप हो गया था, किन्तु बीच-बीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्तव्य याद कर के रो उठता था और फिर एकदम चुप हो जाता था...और कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे...

मालती बर्तन धो चुकी थी । जब वह उन्हें लेकर आँगन के एक ओर रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा, "थोड़े से आम लाया हूँ, वह भी धो लेना ।"

"कहाँ हैं ?"

"अँगीठी पर रखे हैं, कागज़ में लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जाकर आम उठाये और अपने आँचल में डाल लिये । जिस कागज़ में वे लिपटे हुए थे वह किसी पुराने अखबार का

टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी...वह नल के पास जाकर खड़ी उसे पढ़ती रही, जब दोनों ओर पढ़ चुकी, तब एक लम्बी साँस ले कर उसे फेंक कर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया...बहुत दिनों की बात थी...जब हम अभी स्कूल में भर्ती हुए ही थे। जब हमारा सब से बड़ा सुख, सब से बड़ी विजय थी हाजिरी हो चुकने के बाद चोरी से क्लास से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूरी पर आम के बगीचे में पेड़ों पर चढ़ कर कच्ची आमियाँ तोड़-तोड़ खाना। मुझे याद आया...कभी जब मैं भाग आता और मालती नहीं आ पाती थी तब मैं भी खिन्न-मन लौट आया करता था...

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे, एक दिन उस के पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी और कहा कि इस के बीस पेज रोज पढ़ा करो, हफ्ते भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो, नहीं तो मार-मार कर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढ़ी? वह नित्य ही उस के दस पन्ने, बीस पेज, फाड़ कर फेंक देती, अपने खेल में किसी भाँति फर्क न पड़ने देती। जब आठवें दिन उस के पिता ने पूछा, "किताब समाप्त कर ली?" तो उत्तर दिया..."हाँ, कर ली," पिता ने कहा। "लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा" तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली, "किताब मैंने फाड़ कर फेंक दी है, मैं नहीं पढूंगी।"

उस के बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है...इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चंचल मालती आज कितनी सीधी हो गयी है, कितनी शान्त, और एक अख़बार के टुकड़े को तरसती है...यह क्या, यह...

तभी महेश्वर ने पूछा, "रोटी कब बनेगी?"

"बस अभी बनाती हूँ।"

पर अब की बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी, वह मालती की ओर हाथ बढ़ा कर रोने लगा और नहीं माना, मालती उसे भी गोद में लेकर चली गयी, रसोई में बैठ कर हाथ से उसे थपकने और दूसरे से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठा कर अपने सामने रखने लगी...

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की प्रतीक्षा करने लगे।

हम भोजन कर चुके थे और बिस्तरों पर लेट गये थे और टिटी सो गया था। मालती उसे पलंग के एक ओर मोमजामा बिछा कर उसे उस पर लिटा गयी थी। वह सो गया था, पर नींद में कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठ कर बैठ भी गया था, पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा..."आप तो थके होंगे, सो जाइये।"

वे बोले, "थके तो आप अधिक होंगे...अठारह मील पैदल चल कर आये हैं। "किन्तु उन के स्वर ने मानो जोड़ दिया..."थका तो मैं भी हूँ।"

मैं चुप रहा, थोड़ी देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे बताया, वे ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे थे, मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार में—यद्यपि बहुत गहरे विचार में नहीं : लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी, फिर म इधर उधर खिसक कर, पलंग पर आराम से होकर, आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी, आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा...उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगने वाली स्लेट की छत भी चाँदनी में चमक रही है, अत्यन्त

शीतलता और स्निग्धता से छलक रही है, मानो चन्द्रिका उन पर से बहती हुई आ रही हो, झर रही हो...

मैंने देखा, पवन में चीड़ के वृक्ष .. गर्मी से सूख कर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष...धीरे-धीरे गा रहे हों...कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं, अशान्तिमय है, किन्तु उद्वगमय नहीं...

मैंने देखा, प्रकाश से धुँधले नील आकाश के पट पर जो चमगादड़ नीरव उड़ान से चक्कर काट रहे हैं, वे भी सुन्दर दीखते हैं...

मैंने देखा...दिन भर की तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ों में से भाप से उठ कर वातावरण में खोये जा रहे हैं, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत-शिशुओं ने अपनी चीड़ वृक्ष रूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं...

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने. .महेश्वर ऊंघ रहे थे और मालती उस समय भोजन से निवृत्त होकर दही जमाने के लिए मिट्टी का बर्तन गर्म पानी से धो रही थी, और कह रही थी..."अभी छुट्टी हुई जाती है," और मेरे कहने पर ही कि "ग्यारह बजने वाले हैं," धीरे से सिर हिला कर जता रही थी कि रोज ही इतने बज जाते हैं...मालती ने वह सब कुछ नहीं देखा, मालती का जीवन अपनी रोज़ की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिए, एक सँसार के सौन्दर्य के लिए, रुकने को तैयार नहीं था...

चाँदनी में शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा और वह एकाएक मानो किसी शैशवोचित वामता से उठा और खिसक कर पलंग से नीचे गिर पड़ा और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा। महेश्वर नें चौंक कर कहा..."क्या हुआ ?" मैं झपट कर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोई से बाहर निकल आयी, मैंने उस 'खट्' शब्द को याद कर के धीरे से करुणा-भरे स्वर में कहा, "चोट बहुत लग गयी बिचारे के।"

यह सब मानो एक ही क्षण में, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझ से लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा, "इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज़ ही गिर पड़ता है।"

एक छोटे क्षण भर के लिए मैं स्तब्ध हो गया, फिर एकाएक मेरे मन ने, मेरे समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा...कहा मेरे मन ने भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला..."माँ,युवती माँ, यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है, जो तुम अपने एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो...और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है !

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है, मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी भयंकर छाया घर कर गयी है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गयी है, उसका इतना अभिन्न अंग हो गयी है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, उसी की परिधि में घिरे हुए चले जा रहे हैं। इतना ही नहीं, मैंने उस छाया को देख भी लिया...

इतनी देर में, पूर्ववत् शान्ति हो गयी थी। महेश्वर फिर लेट कर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपट कर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उस के छोटे से शरीर को हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप ऊपर आकाश में देख रही थी, किन्तु क्या चन्द्रिका को या तारों को ?

तभी ग्यारह का घंटा बजा, मैंनें अपनी भारी हो रही पलकें उठा कर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घंटे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी, और घंटा-ध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जाने वाली आवाज में उस ने कहा, "ग्यारह बज गये..."

मेजर चौधरी की वापसी

किसी की टाँग टूट जाती है, तो साधारणतया उसे बधाई का पात्र नहीं माना जाता। लेकिन मेजर चौधरी जब छः सप्ताह अस्पताल में काट कर बैसाखियों के सहारे लड़खड़ाते हुए बाहर निकले, और बाहर निकल कर उन्होंने मिज़ाजपुर्सी के लिए आये हुए अफ़सरों को बताया कि उनको चार सप्ताह की 'वार लीव' के साथ उन्हें छः सप्ताह की 'कम्पैशनेट लीव'[1] भी मिली है, और उस के बाद ही शायद कुछ और छुट्टी के अनन्तर उन्हें सैनिक नौकरी से छुटकारा मिल जायगा, तब सुनने वालों के मन में अवश्य ही ईर्ष्या की लहर दौड़ गयी थी। क्योंकि मोकोक्चङ् यों सब-डिवीज़न का केन्द्र क्यों न हो, वैसे वह नगा पार्वत्य जंगलों का ही एक हिस्सा था, और जोंक, दलदल, मच्छर, चूती छतें, कीचड़ फर्श, पीने को उबाला जाने पर भी गँदला पानी और खाने को पानी में भिगो कर ताजे किये गये सूख आलू-प्याज—ये सब चीजें ऐसी नहीं हैं कि दूसरों के सुख-दुःख के प्रति सहज औदार्य की भावना को जाग्रत करें!

मैं स्वयं मोकोक्चङ् में नहीं, वहाँ से तीस मील नीचे मरियानी में रहता था, जो कि रेल की पक्की सड़क द्वारा सेवित छावनी थी। मोकोक्चङ् अपनी सामग्री और उपकरणों के लिए मरियानी पर निर्भर था, इस लिए मैं जब-तब एक दिन के लिए मोकोक्चङ् जाकर वहाँ की अवस्था देख आया करता था। नाकाचारी चार-आली[2] से आगे रास्ता बहुत ही खराब है और गाड़ी कीच-काँदों में फँस-फँस जाती है, किन्तु उस प्रदेश की आब नगा जाति के हंसमुख चेहरों और साहाय्य-तत्पर व्यवहार के कारण वह जोखम बुरी नहीं लगती।

---

[1]—समवेदना-जन्य छुट्टी। [2]—चार-आली=चौ रास्ता, आली असमिया में सड़क को कहते हैं।

मुझे तो मरियानी लौटना था ही, मेजर चौधरी भी मेरे साथ ही चले—मरियानी से रेल द्वारा वह गौहाटी होते हुए कलकत्ते जायँगे और वहाँ से अपने घर पश्चिम को...

स्टेशन-वैगन चलाते-चलाते मैंने पूछा, "मेजर साहब, घर लौटते हुए कैसा लगता है ?" और फिर इस डर से कि कहीं मेरा प्रश्न उन्हें कष्ट ही न दे, "आप के इस—इस एक्सिडेंट से अवश्य ही इस प्रत्यागमन पर एक छाया पड़ गयी है, पर फिर भी घर तो घर है—"

अस्पताल के छः हफ़्ते मनुष्य के मन में गहरा परिवर्तन कर देते हैं, यह अचानक तब जाना जब मेजर चौधरी ने कुछ सोचते-से उत्तर दिया, "हाँ, घर तो घर ही है। पर जो एक बार घर से जाता है, वह लौट कर भी घर लौटता ही है, इस का क्या ठिकाना ?"

मैंने तीखी दृष्टि से उन की ओर देखा। कौन-सा गोपन दुःख उन्हें खा रहा है—'घर' की स्मृति को लेकर कौन-सा वेदना का ठूँठ इन की विचार-धारा में अवरोध पैदा कर रहा है ? पर मैंनें कुछ कहा नहीं, प्रतीक्षा में रहा कि कुछ और कहेंगे।

देर तक मौन रहा, गाड़ी नाकाचारी की लीक में उचकती-धचकती चलती रही।

थोड़ी देर बाद मेजर चौधरी फिर धीरे-धीरे कहने लगे "देखो, प्रधान, फ़ौज में जो भरती होते हैं न जाने क्या-क्या सोच कर, किस-किस आशा से। कोई-कोई अभागा आशा से नहीं, निराशा से भी भरती होता है, और लौटनें की कल्पना नहीं करता। लेकिन जो लौटने की बात सोचते हैं—और प्रायः सभी सोचते हैं—वे मेरी तरह लौटने की बात नहीं सोचते—"

उन का स्वर मुझे चुभ गया। मैंने सान्त्वना के स्वर में कहा, "नहीं मेजर चौधरी इतने हतधैर्य आपको नहीं—"

"मुझे कह लेने दो, प्रधान !"

मैं रुक गया।

"मेरी जाँघ और कूल्हे में चोट लगी थी, अब मैं सेना के काम का न रहा पर आजीवन लँगड़ा रह कर भी वैसे चलने-फिरने लगूँगा, यह तुमने अस्पताल में सुना है। सिविल जीवन में कई पेशे हैं जो मैं कर सकता हूँ। इस लिए घबराने की कोई बात नहीं। ठीक है न ? पर—" मेजर चौधरी फिर रुक गये और मैंने लक्ष्य किया कि आगे की बात कहने में उन्हें कष्ट हो रहा है, "पर—चोटें ऐसी भी होती हैं—जिनका इलाज—नहीं होता..."

मैं चुपचाप सुनता रहा।

"भरती होने से साल भर पहले मेरी शादी हुई थी। तीन साल होगये। हम लोग साथ लगभग नहीं रहे—वैसी सुविधाएँ नहीं हुई। हमारी कोई सन्तान नहीं है।"

फिर मौन। क्या मेरी ओर से कुछ अपेक्षित है ? किन्तु किसी आन्तरिक व्यथा की बात अगर वह कहना चाहते हैं, तो मौन ही सहायक हो सकता है, वही प्रोत्साहन है।

"सोचता हूँ, दाम्पत्य-जीवन में शुरू म—इतनी—कोमलता न बरती होती ! कहते हैं कि स्त्री-पुरुष में पहले सख्य आना चाहिये—मानसिक अनुकूलता—"

मैंने कनखियों से उनकी तरफ़ देखा। सीधे देखने से स्वीकारी अन्तरात्मा की खुलती सीपी खट् से बन्द हो जाया करती है। उन्हें कहने दूँ।

पर उन्होंने जो कहा उस के लिए मैं बिल्कुल तैयार नहीं था और अगर उन के कहने के ढंग में ही इतनी गहरी वेदना न होती तो जो शब्द कहे गये थे उनसे पूरा व्यंजनार्थ भी मैं न पा सकता...

"हमारी कोई सन्तान नहीं है। और अब—जिस से आगे कुछ नहीं है वह सख्य भी कैसे हो सकता है ? उसे—एक सन्तान का ही सहारा होता...कुछ नहीं ! प्रधान, यह 'कम्पैशनेट लीव' अच्छा मज़ाक है—कम्पैशन भगवान् को छोड़ कर और कौन दे सकता है और मृत्यु के

अलावा होता कहाँ है ? अब इति में आरम्भ है ! घर !" कुछ रुक कर, "वापसी ! घर !"

मैं सन्न रह गया । कुछ बोल न सका । थोड़ी देर बाद चौंक कर देखा कि गाड़ी की चाल अपने-आप बहुत धीमी हो गयी है, इतनी कि तीसरे गीयर, पर वह झटके दे रही है । मैंने कुछ सँभल कर गीयर बदला, और फिर गाड़ी तेज़ कर के एकाग्र हो कर चलाने लगा—नहीं, एकाग्र होकर नहीं, एकाग्र दीखता हुआ ।

तब मेजर चौधरी एक बार अपना सिर झटके से हिला कर मानो उस विचारश्रृंखला को तोड़ते हुए सीधे होकर बैठ गये । थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा, "क्षमा करना, प्रधान, मैं शायद अनकहनी कह गया । तुम्हारे प्रश्नों के लिए तैयार नहीं था—"

मैंने रुकते-रुकते कहा—"मेजर, मेरे पास शब्द नहीं हैं कि कुछ कहूँ—"

"कहोगे क्या, प्रधान ? कुछ बातें शब्दों से परे होती हैं—शायद कल्पना से भी परे होती हैं । क्या मैं भी जानता हूँ कि—कि घर लौट कर मैं क्या अनुभव करूँगा ? छोड़ो इसे । तुम्हें याद है, पिछले साल मैं कुछ महीने मिलिटरी पुलिस में चला गया था ?"

मैंने जाना कि मेजर विषय बदलना चाह रहे हैं । पूरी दिलचस्पी के साथ बोला, "हाँ-हाँ । वह अनुभव भी अजीब रहा होगा ।"

"हाँ । तभी की एक बात अचानक याद आयी है । मैं शिलंग में प्रोवोस्ट मार्शल[1] के दफ़्तर में था । तब—वें डिवीज़न की कुछ गोरी पल्टनें वहाँ विश्राम और नये सामान के लिए बर्मा से लौट कर आयी थीं ।"

"हाँ, मझे याद है । उन लोगों ने कुछ उपद्रव भी वहाँ खड़ा किया था—"

१—सैनिक पुलिस का उच्चाधिकारी प्रोवोस्ट मार्शल कहलाता है ।

"काफ़ी ! एक रात मैं जीप लिये गश्त पर जा रहा था। हैपी वैली की छावनी से जो सड़क शिलंग बस्ती को आती है वह बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी और उतार-चढ़ाव की है और चीड़ के झुरमुटों से छायी हुई, यह तो तुम जानते हो। मैं एक मोड़ से निकला ही था कि मुझे लगा कुछ चीज़ रास्ते से उछल कर एक ओर को दुबक गयी है। गीदड़-लोमड़ी उधर बहुत हैं, पर उन की फलाँग ऐसी अनाड़ी नहीं होती, इस लिए मैं रुक गया। झुरमुटों के किनारे खोजते हुए मैंने देखा, एक गोरा फ़ौजी छिपना चाह रहा है। छिपना चाहता है तो अवश्य अपराधी है, यह सोच कर मैंने उसे ज़रा धमकाया और नाम, नम्बर, पल्टन आदि का पता लिख लिया। वह बिना पास के रात को बाहर तो था ही, पूछने पर उसने बताया कि वह एक मील और नीचे नाङ्-थिम्-माई की बस्ती को जा रहा था। इस से आगे का प्रश्न मैंने नहीं पूछा—उन प्रश्नों का उत्तर तुम जानते ही हो और पूछ कर फिर कड़ा दंड देना पड़ता है जो कि अधिकारी नहीं चाहते—जब तक कि खुल्लमखुल्ला कोई बड़ा स्कैंडल न हो।"

"हूँ। मैंने तो सुना है कि यथा-सम्भव अनदेखी की जाती है ऐसी बातों की। बल्कि कोई वेश्यालय में पकड़ा जाय और उस की पेशी हो तो असली अपराध के लिए नहीं होती, वर्दी ठीक न पहनने या अफ़सर की अवज्ञा या ऐसे ही किसी जुर्म के लिए होती है।"

"ठीक ही सुना है तुमने। असली अपराध के लिए ही हुआ करे तो अव्वल तो चालान इतने हों कि सेना बदनाम हो जाय; इस से इस का असर फ़ौजियों पर भी तो उलटा पड़े—उनका दिमाग हर वक्त उधर ही जाया करे। खैर। उस दिन तो मैंने उसे डाँट-डपट कर छोड़ दिया। पर दो दिन बाद फिर एक अजीब परिस्थिति में उस का सामना हुआ।"

"वह कैसे ?"

"उस दिन मैं अधिक देर कर के जा रहा था। आधी रात होगी, गश्त पर जाते हुए उसी जगह के आस-पास मैंने एक चीख सुनी। गाड़ी

रोक कर मैंने बत्ती बुझा दी और टार्च ले कर एक पुलिया की ओर गया जिधर से आवाज आयी थी। मेरा अनुमान ठीक ही था; पुलिया के नीचे एक पहाड़ी औरत गुस्से से भरी खड़ी थी, और कुछ दूर पर एक अस्तव्यस्त गोरा फ़ौजी, जिस की टोपी और पेटी जमीन पर पड़ी थी और बुश शर्ट हाथ में। मैंने नीचे उतर कर डाँट कर पूछा, 'यह क्या है ?" पर तभी मैंने उस फ़ौजी की आँखों में देख कर पहचाना कि एक तो वह परसों वाला व्यक्ति है, दूसरे वह काफ़ी नशे में है। मैंने और भी कड़े स्वर में पूछा, 'तुम्हें शरम नहीं आती ? क्या कर रहे थे तुम ?'

"वह बोला, 'यहमे री है।'

"मैंने कहा, 'बको मत!' और उस औरत से कहा कि वह चली जाय। पर वह ठिठकी रही। मैंने उस से पूछा, 'जाती क्यों नहीं ?' तब वह कुछ सहमी-सी बोली, 'मेरे रुपये ले दो।' "

"काफ़ी बेशर्म ही रही होगी वह भी !"

"हाँ, मामला अजीब ही था। दोनों को डाँटने पर दोनों ने जो टूटे-फूटे वाक्य कहे उस से यह समझ में आया कि दो-तीन घंटे पहले वह गोरा एक बार उस औरत के पास हो गया था और फिर आगे गाँव की तरफ़ चला गया था। लौट कर फिर उसे वह रास्ते में मिली तो गोरे ने उसे पकड़ लिया था। झगड़ा इसी बात का था कि गोरे का कहना था, वह रात के पैसे दे चुका है, और औरत का दावा था कि पिछला हिसाब चुकता था, और अब फ़ौजी उस का देनदार है! मैंने उसे धमका कर चलता किया, पहले तो वह गालियाँ देने लगी पर जब उसने देखा कि गोरा भी गिरफ़्तार हो गया है तो बड़बड़ाती चली गयी।"

"फिर गोरे का क्या हुआ ? उसे तो कड़ी सज़ा मिलनी चाहिये थी ?"

मेजर चौधरी थोड़ी देर तक चुप रहे। फिर बोले, "नहीं, प्रधान, उसे सजा नहीं मिली। मालूम नहीं वह मेरी भूल थी या नहीं, पर जीप में ले आने के घंटा भर बाद मैंने उसे छोड़ दिया।"

मैंने अचानक कहा, "वाह, क्यों ?" फिर यह सोच कर कि यह प्रश्न कुछ अशिष्ट-सा हो गया है, मैंने फिर कहा, "कुछ विशेष कारण रहा होगा—"

"कारण ? हाँ, कारण...था शायद। यह तो इस पर है कि कारण कहते किसे हैं। मैंने जैसे छोड़ा वह बताता हूँ।"

मैं प्रतीक्षा करता रहा। मेजर कहने लगे, "उसे मैं जीप में ले आया। थोड़ी देर टार्च का प्रकाश उस के चेहरे पर डाल कर घूरता रहा कि वह और ज़रा सहम जाय। तब मैंने कड़क कर पूछा, 'तुम्हें शरम नहीं आयी अपनी फ़ौज का और ब्रिटेन का नाम कलंकित करते ? अभी परसों मैंने तुम्हें पकड़ा था और माफ़ कर दिया था।' मेरे स्वर का उस के नशे पर कुछ असर हुआ। ज़रा सँभल कर बोला, 'सर, मैं कुछ बुरा नहीं करना चाहता था—' मैंने फिर डाँटा, 'सड़क पर एक औरत को पकड़ते हो और कहते हो कि बुरा करना नहीं चाहते थे ?' वह बगलें झाँकने लगा, पर फिर भी सफ़ाई देता हुआ-सा बोला, 'सर, वह अच्छी औरत नहीं है। वह रुपया लेती है—मैं तीन दिन से रोज़ उस के पास आता हूँ।' मैंने सोचा, बेहयाई इतनी हो तो कोई क्या करे ? पर इस टामी जन्तु में जन्तु का-सा सीधापन भी है जो ऐसी बात कर रहा है। मैंने कहा, 'और तुम तो अपने को बड़ा अच्छा आदमी समझते होगे न, एकदम स्वर्ग से झरा हुआ फ़रिश्ता ?' वह वैसे ही बोला, 'नहीं सर, लेकिन—लेकिन—'

"मैंनें कहा, लेकिन क्या ? तुमने अपनी पल्टन का और अपना मुँह काला किया है, और कुछ नहीं।' तभी मुझे उस औरत की बात याद आई कि यह कुछ घंटे पहले उसके पास हो गया था, और मेरा गुस्सा फिर भड़क उठा। मैंने उस से कहा, 'थोड़ी देर पहले तुम एक बार बच कर चले भी गये थे, उस से तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ ? आगे गाँव में कहाँ गये थे ? एक बार काफ़ी नहीं था !'

"अब तक वह कुछ और सँभल गया था। बोला, 'सर, ग़लती मैंने

की है। लेकिन—लेकिन मैं अपने साथियों से बराबर होना चाहता हूँ–'

"मैंने चौंक कर कहा, 'क्या मतलब ?' "

"वह बोला, 'हमारा डिवीज़न छः हफ़्ते हुए यहाँ आ गया था, आप जानते हैं। डेढ़ साल से हम लोग फ्रंट पर थे जहाँ औरत का नाम नहीं, खाली मच्छड़ और कीचड़ और पेचिश होती है। वहाँ से मेरी पल्टन छः हफ़्ते पहले लौटी थी, पर मैं एक ब्रेकडाउन टुकड़ी के साथ पीछे रह गया था।'

" 'तो फिर ?' मैंने पूछा।"

"बोला, 'डिवीज़न में मेरी पल्टन सब से पहले यहाँ आयी थी, बाकी पल्टनें पीछे आयी। छः हफ़्ते से वे लोग यहाँ हैं, और मैं कुल परसों आया हूँ और दस दिन में हम लोग वापस चले जायेंगे।' "

"मैंने डाँटा, 'तुम्हारा मतलब क्या है ?' उसने फिर धीरे-धीरे जैसे मुझे समझाते हुए कहा, 'सारे शिलंग के गाँवों की, नेटिव बस्तियों की छाँट उन्होंने की है। मैं केवल परसों आया हूँ और दस दिन हमें और रहना है। मैं उन के बराबर होना चाहता हूँ, किसी—से पीछे मैं नहीं रहना चाहता!' "

मेजर चौधरी चुप हो गये। मैं भी कुछ देर चुप रहा। फिर मैंने कहा, "क्या दलील है! ऐसा विकृत तर्क वह कर कैसे सका—नशे का ही असर रहा होगा। फिर आपने क्या किया ?"

"मैं मानता हूँ कि तर्क विकृत है। पर उसे पेश कर सकने में मनुष्य से नीचे के निरे मानव-जन्तु का साहस है, बल्कि साहस भी नहीं, निरी जन्तु-बुद्धि है, और इस लिए उस पर विचार भी उसी तल पर होना चाहिये ऐसा मुझे लगा। समझ लो जन्तु ने जन्तु को माफ़ कर दिया। बल्कि यह कहना चाहिए कि जन्तु ने जन्तु को अपराधी ही नहीं पाया।" कुछ रुक कर वह कहते गये "यह भी मुझे लगा कि व्यक्ति में ऐसी भावना पैदा करने वाली सामूहिक मनस्थिति ही हो सकती है, और यदि एसा है तो समूह को ही दायी मानना चाहिये।"

स्टेशन वैगन हचकोले खाता हुआ बढ़ता रहा। मैं कुछ बोला नहीं। मेजर चौधरी ने कहा, "तुमने कुछ कहा नहीं। शायद तुम समझते हो कि मैंने भूल की, इसी लिए चुप हो। पर वैसा कह भी दो तो मैं बुरा न मानूँ—मेरा बिल्कुल दावा नहीं है कि मैंने ठीक किया।"

मैंने कहा, "नहीं, इतना आसान तो नहीं है कुछ कह देना—" और चुप लगा गया। अपने अनुभव की भी एक घटना मुझे याद आयी, उसे मैं मन ही मन दुहराता रहा। फिर मैंने कहा, "एक ऐसी ही घटना मुझे भी याद आती है—"

"क्या ?"

"उसमें ऐसा तीखापन तो नहीं है, पर जन्तु-तर्क की बात वहाँ भी लागू होती। एक दिन जोरहाट में क्लब में एक भारतीय नृत्य-मंडली आयी थी—हम लोग सब देखने गये थे। उस मंडली को और आगे लीडो रोड की तरफ़ जाना था, इस लिए उसे एक ट्रक में बिठाकर मरियानी स्टेशन भेजने की व्यवस्था हुई। मुझे उस ट्रक को स्टेशन तक सुरक्षित पहुँचा देने का काम सौंपा गया।

"ट्रक में मंडली की छहों लड़कियाँ और साज़िन्दे वगैरह बैठ गये, तो मैंने ड्राइवर को चलने को कहा। गाड़ी से उड़ी हुई धूल को बैठ जाने के लिए कुछ समय दे कर मैं भी जीप में क्लब से बाहर निकला। कुछ दूर तो बजरी की सड़क थी, उस के बाद जब पक्की तारकोल की सड़क आयी और धूल बन्द हो गयी तो मैंने तेज़ बढ़ कर ट्रक को पकड़ लेने की सोची। कुछ देर बाद सामने ट्रक की पीठ दीखी, पर उसकी ओर देखते ही मैं चौंक गया।"

"क्यों, क्या बात हुई ?"

"मैंने देखा, ट्रक की छत तक बाहें फैलाये और पीठ की तख्ती के ऊपरी सिरे को दाँतों से पकड़े हुए एक आदमी लटक रहा था। तनिक और पास आ कर देखा, एक बावर्दी गोरा था। उसके पैर किसी चीज़ पर टिके नहीं थे, बूट यों ही झूल रहे थे। क्षण भर तो मैं चकित सोचता ही

रहा कि क्या दाँतों और नाखूनों की पकड़ इतनी मजबूत हो सकती है। फिर मैंने लपक कर जीप उस ट्रक के बराबर कर के ड्राइवर को रुक जाने को कहा।"

"फिर ?"

"ट्रक रुका तो हमने उस आदमी को नीचे उतारा। उसके हाथों की पकड़ इतनी सख्त थी कि हमने उसे उतार लिया तब भी उस की उँगलियाँ सीधी नहीं हुईं—वे जकड़ी-जकड़ी ही ऐंठ गयी थीं! और गोरा नीचे उतरते ही ज़मीन पर ही ढेर हो गया।"

"जरूर पिये हुए होगा—"

"हाँ—एकदम धुत्! आँखों की पुतलियाँ बिल्कुल विस्फारित हो रही थीं, वह भौचक्का-सा बैठा था। मैंने डपट कर उठाया तो लड़खड़ा कर खड़ा हो गया। मैंने पूछा 'तुम ट्रक के पीछे क्यों लटके हुए थे?' तो बोला 'शर, मैं लिफ़्ट चाहता हूँ?' मैंने कहा, 'लिफ़्ट का वह कोई ढंग है? चलो, मेरी जीप में चलो, मैं पहुँचा दूँगा। कहाँ जाना है तुम्हें?' इस का उसने कोई उत्तर नहीं दिया। हम लोग जीप में घुसे, वह लड़खड़ाता हुआ चढ़ा और पीछे सीटों के बीच में फ़र्श पर धप से बैठ गया।

"हम चल पड़े। हठात् उसनें पूछा, 'शर, आप स्काच हैं?' मैंने लक्ष्य किया कि नशे में वह यह नहीं पहचान सकता कि मैं भारतीय हूँ या अंगरेज़, पर इतना पहचानता है कि मैं अफ़सर हूँ और 'सर' कहना चाहिये। फौजी ट्रेनिंग भी बड़ी चीज़ है जो नशे की तह को भी भेद जाती है! खैर। मैंने कहा, 'नहीं, मैं स्कॉच नहीं हूँ।'

"वह जैसे अपने से ही बोला, 'डैम फ़ाइन ह्विस्की।' और जबान चटखारने लगा। मैं पहले तो समझा नहीं, फिर अनुमान किया कि स्काच शब्द से उसका मदसिक्त मन केवल ह्विस्की का ही सम्बन्ध जोड़ सकता है...तब मैंने कहा, 'हाँ। लेकिन तुम जाओगे कहाँ?"

"बोला, 'मुझे यहीं कहीं उतार दीजिये—जहाँ कहीं कोई नेटिव गाँव

पास हो।' मैंने डपट कर कहा, 'क्यों, क्या मंशा है तुम्हारा?' तब उस का स्वर अचानक रहस्य-भरा हो आया, और वह बोला, 'सच बताऊँ सर, मुझे औरत चाहिये।' मैंने कहा, 'यहाँ कहाँ है औरत?' तो बोला, 'सर, मैं ढूँढ लूँगा, आप कहीं गाँव-वाँव के पास उतार दीजिये।'"

"फिर तुमनें क्या किया?"

"मेरे जी में तो आयी कि दो थप्पड़ लगाऊँ। पर सच कहूँ तो उस के 'मुझे औरत चाहिये' के निर्व्याज कथन ने ही मुझे निरस्त्र कर दिया—मुझे भी लगा कि इस जन्तुत्व के स्तर पर मानव ताडनीय नहीं, दयनीय है। मैंने तीन-चार मील आगे सड़क पर उसे उतार दिया—जहाँ आस-पास कहीं गाँव का नाम-निशान न हो और लौट जाना भी ज़रा मेहनत का काम हो। अब तक कई बार सोचता हूँ कि मैंने उचित किया या नहीं—"

"ठीक ही किया—और क्या कर सकते थे? दंड देना कोई इलाज न होता। मैं तो मानता हूँ कि जन्तु के साथ जन्तु तर्क ही मानवता है, क्योंकि वही करुण है; और न्याय, अनुशासन, ये सब अन्याय हैं जो उस जन्तुत्व को पाशविकता ही बना देंगे।"

हम लोग फिर बहुत देर तक चुप रहे। नाकाचारी चार-आली पार कर के हमने भरियानी की सड़क पकड़ ली थी; कच्ची यह भी थी पर उतनी खराब नहीं, और हम पीछे धूल के बादल उड़ाते हुए ज़रा तेज चल रहे थे। अचानक मेजर चौधरी मानों स्वगत कहने लगे, "और मैं मनुष्य हूँ। मैं नहीं सोच सकता कि 'वह मेरी है' या कि 'मुझे औरत चाहिये!' मैं छुट्टी पर घर जा रहा हूँ—कम्पैशनेट छुट्टी पर। कम्पैशन यानी रहम—मुझ पर रहम किया गया है, क्योंकि मैं उस गोरे की तरह हिर्स नहीं कर सकता कि मैं किसी के बराबर होना चाहता हूँ। नहीं, हिर्स तो कर सकता हूँ, पर मनुष्य हूँ, और मैं वापस जा रहा हूँ, घर। घर!"

मैं चुपचाप आँखें सामने गड़ाये स्टेशन-वैगन चलाता रहा और

मनाता रहा कि मेजर का वह अजीब स्वर में उच्चारित शब्द, 'घर !' गाड़ी की घर्र-घर्र में लीन हो जाय; उसे सुनने, सुन कर स्वीकारने की बाध्यता न हो।

उन्होंने फिर कहा, "एक बार मैं ट्रेन से आ रहा था तो उसी कम्पार्टमैंट में छुट्टी से लौटता हुआ एक पंजाबी सूबेदार-मेजर अपने एक साथी को अपनी छुट्टी का अनुभव सुना रहा था। 'मैं ध्यान तो नहीं दे रहा था, पर अचानक एक बात मेरी चेतना पर अँक गयी और उस की स्मृति बनी रह गयी। सूबेदार-मेजर कह रहा था, 'छुट्टी मिलती नहीं थी, कुल दस दिन की मंजूर हुई तो घरवाली को तारीखें लिखीं, पर उस का तार आया कि छुट्टी और पन्द्रह दिन बाद लेना। मुझे पहले तो सदमा पहुँचा पर उसने चिट्ठी में लिखा था कि दस दिन की छुट्टी में तीन तो आने-जाने के, बाकी छः दिन में से मैं नहीं चाहती कि तीन यों ही जाया हो जायं !' और इस-पर उस के साथी ने दबी ईर्ष्या के साथ कहा था, 'तकदीर वाले हो भाई...' "

मैंने कहा, "युद्ध में इनसान का गुण-दोष सब चरम रूप लेकर प्रकट होता है। मुश्किल यही है कि गुण प्रकट होते हैं तो मृत्यु के मुख में ले जाते हैं, दोष सुरक्षित लौटा लाते हैं ! युद्ध के खिलाफ़ यह कम बड़ी दलील नहीं है—प्रत्येक युद्ध के बाद इनसान चारित्रिक दृष्टि से और ग़रीब होकर लौटता है।"

"यद्यपि कहते हैं कि तीखा अनुभव चरित्र को पुष्ट करता है—"

"हाँ, लेकिन जो पुष्ट होते हैं वे लौटते कहाँ हैं ?" कहते-कहते मैंने जीभ काट ली, पर बात मुंह से निकल गयी थी।

मेजर चौधरी की पलकें एक बार सकुच कर फैल गयीं, जैसे नश्तर के नीचे कोई अंग होने पर। उन्होंने सँभल कर बैठते हुए कहा, "थैंक यू, कैप्टेन प्रधान ! हम लोग मरियानी के पास आ गये—मुझे स्टेशन उतारते जाना, तुम्हारे डिपो जाकर क्या करूँगा—"

तिराहे से गाड़ी मैंने स्टेशन की ओर मोड़ दी।

जय-दोल

लेफ़्टिनेंट सागर ने अपना कीचड़ से सना चमड़े का दस्ताना उतार कर, ट्रक के दरवाज़े पर पटकते हुए कहा, "गुरुंग, तुम गाड़ी के साथ ठहरो, हम कुछ बन्दोबस्त करेगा ।"

गुरुंग सड़ाक् से जूतों की एड़ियाँ चटका कर बोला, "ठीक ए सा'ब!"

साँझ हो रही थी। तीन दिन मूसलाधार बारिश के कारण नवगाँव में रुके रहने के बाद, दोपहर को थोड़ी देर के लिए आकाश खुला तो लेफ्टिनेंट सागर ने और देर करना ठीक न समझा। ठीक क्या न समझा, आगे जाने के लिए वह इतना उतावला हो रहा था कि उसने लोगों की चेतावनी को अनावश्यक सावधानी माना, और यह सोच कर कि वह कम से कम शिवसागर तो जा ही रहेगा रात तक, वह चल पड़ा था। जोरहाट पहुँचने तक ही शाम हो गयी थी, पर उसे शिवसागर के मन्दिर देखने का इतना चाव था कि वह रुका नहीं, जल्दी से चाय पीकर आगे चल पड़ा। रात जोरहाट में रहे तो सबेरे चल कर सीधे डिबरूगढ़ जाना होगा, रात शिवसागर में रह कर सबेरे वह मन्दिर और ताल को देख सकेगा। शिवसागर, रुद्रसागर जयसागर...कैसे सुन्दर नाम हैं। सागर कहलाते हैं तो बड़े-बड़े ताल होंगे...और प्रत्येक के किनारे पर बना हुआ मन्दिर कितना सुन्दर दीखता होगा ..असमिया लोग हैं भी बड़े साफ़-सुथरे, उन के गाँव इतने स्वच्छ होते हैं तो मन्दिरों का क्या कहना...शिव-दोल, रुद्र-दोल, जय-दोल ..सागर-तट के मन्दिर को दोल कहना कैसी सुन्दर कवि-कल्पना है। सचमुच जब ताल के जल में, मन्द-मन्द हवा से सिहरती चाँदनी में, मन्दिर की कुहासे-सी परछाईं दोलती होगी, तब मन्दिर सचमुच सुन्दर हिंडोले-सा दीखता होगा...इसी उत्साह को लिये वह बढ़ता जा रहा था...तीस-पैंतीस मील का क्या है...घंटे भर की बात है...

लेकिन सात-एक मील बाकी थे कि गाड़ी कच्ची सड़क के कीचड़ में फँस गयी, पहले तो स्टीयरिंग ऐसा मक्खन-सा नरम चला, मानो गाड़ी नहीं नाव की पतवार हो, रश्री नाव बड़े से भँवर में हचकोले खाती भूम रही हो; फिर लेफ़्टिनेंट के सँभालते-सँभालते गाड़ी धीमी हो कर रुक गयी, यद्यपि पहियों के घूमते रह कर कीचड़ उछालने की आवाज़ आती रही ..

इस के लिए साधारणतः तैयार होकर ही ट्रक चलते थे। तुरन्त बेलचा निकाला गया, कीचड़ साफ़ करने की कोशिश हुई, लेकिन कीचड़ गहरा और पतला था, बेलचे का नहीं पम्प का काम था! फिर टायरों पर लोहे की जंजीरें चढ़ायी गयीं। पहिये घूमने पर कहीं पकड़ने को कुछ मिले तो गाड़ी आग ठिले—मगर चलाने की कोशिश पर लीक गहरी कटती गयी और ट्रक धँसता गया, यहाँ तक कि नीचे का गीयर-बक्स भी कीचड़ में डूबने को हो गया...मानो इतना काफी न हो; तभी इंजन ने दो-चार बार फट्-फट्-फटर का शब्द किया और चुप हो गया...फिर स्टार्ट ही न हुआ ..

अँधेरे में गुरुंग का मुँह नहीं दीखता था, और लेफ्टिनेंट ने मन ही मन संतोष किया कि गुरुंग को उस का मुँह भी नहीं दीखता होगा...गुरुंग गोरखा था और फौजी गोरखों की भाषा कम से कम भावना की दृष्टि से गूंगी होती है मगर आँखें या चहरे की झुर्रियाँ सब समय गूंगी नहीं होतीं...और इस समय अगर उनमें लेफ्टिनेंट सा'ब की भावुक उतावली पर विनोद का आभास भी दीख गया, तो दोनों में मूक वैमनस्य की एक दीवार खड़ी हो जायेगी...

तभी सागर ने दस्ताने फेंक कर कहा, "हम कुछ बन्दोबस्त करेगा," और फिच्च-फिच्च कीचड़ में जमा-जमा कर बूट रखता हुआ आगे बढ़ चला।

कहने को तो उसने कह दिया, पर बन्दोबस्त वह क्या करेगा रात में? बादल फिर घिरने लगे, शिवसागर सात मील है तो दूसरे सागर

भी तीन चार मील तो होंगे और क्या जाने कोई बस्ती भी होगी कि नहीं; और जय-सागर तो बड़े बीहड़ मैदान के बीच में है...उसने पढ़ा था कि उस मैदान के बीच में ही रानी जयमती को यन्त्रणा दी गयी थी कि वह अपने पति का पता बता दे। पाँच लाख आदमी उसे देखने इकट्ठे हुए थे, और कई दिनों तक रानी को सारी जनता के सामने सताया और अपमानित किया गया था।

एक बात हो सकती है कि पैदल ही शिवसागर चला जाय। पर उस कीचड़ में फिच्च-फिच्च सात मील! उसी में भोर हो जायेगा, फिर तुरत गाड़ी के लिए वापस जाना पड़ेगा ..फिर नहीं, वह बेकार है। दूसरी सूरत...रात गाड़ी में ही सोया जा सकता है। पर गुरुंग? वह भूखा ही होगा...कच्ची रसद तो होगी पर बनायेगा कैसे? सागर ने तो गहरा नाश्ता किया था, उस के पास बिस्कुट वगैरह भी हैं...पर अफ़सरी का बड़ा कायदा है कि अपने मातहत को कम से कम खाना तो ठीक खिलाये...शायद आस-पास कोई गाँव हो—

कीचड़ में कुछ पता न लगता था कि सड़क कितनी है और अगल-बगल का मैदान कितना। पहले तो दो-चार पेड़ भी किनारे-किनारे थे, पर अब वह भी नहीं...दोनों ओर सपाट सूना मैदान था, और दूर के पेड़ भी ऐसे धुँधले हो गये थे कि भ्रम हो, कहीं चश्मे पर नमी की ही करामात तो नहीं है...अब रास्ता जानने का एक ही तरीका था, जहाँ कीचड़ कम गहरा हो वही सड़क; इधर-उधर हटते ही पिंडलिया तक पानी में डूब जाती थीं और तब वह फिर धीरे-धीरे पैर से टटोल कर मध्य में आ जाता था...

यह क्या है? हाँ, पुल-सा है—यह रेलिंग है। मगर दो पुल हैं सम-कोण बनाते हुए...क्या दो रास्ते हैं? कौन-सा पकड़?

एक कुछ ऊँची जमीन की ओर जाता जान पड़ता था। ऊँचे पर कीचड़ कम होगा, इस बात का ही आकर्षण काफी था; फिर ऊँचाई पर से शायद कुछ दीख भी जाये। सागर उधर ही को चल पड़ा। पुल के

पार ही सड़क एक ऊँची उठी हुई पटरी-सी बन गयी, तनिक आगे इस में कई मोड़ से आये, फिर जैसे धन-खेतों में कहीं-कहीं कई-एक छोटे-छोटे खेत एक-साथ पड़ने पर उन की मेंड़ मानों एक-साथ ही कई ओर जाती जान पड़ती है, इसी तरह वह पटरी भी कई ओर को जाती-सी जान पड़ी। सागर मानो एक बिन्दु पर खड़ा है जहाँ से कई ओर कई रास्ते हैं, प्रत्येक के दोनों ओर जल...मानो अथाह समद्र में पटरियाँ बिछा दी गयी हों...

सागर ने एक बार चारों ओर नज़र दौड़ायी। शून्य। उसने फिर आँखों की कोरें कस कर झाँक कर देखा, बादलों की रेखा में एक कुछ अधिक घनी-सी रेखा उसे दीखी...बादल ऐसा समकोण नहीं हो सकता। नहीं, यह इमारत है...सागर उसी ओर को बढ़ने लगा। रोशनी नहीं दीखती, पर शायद भीतर कोई हो—

पर ज्यों-ज्यों वह निकट जाता गया उस की आशा धुँधली पड़ती गयी। वह असमिया घर नहीं हो सकता—इतने बड़े घर अब कहाँ हैं—फिर यहाँ, जहाँ बाँस और फूस के वासे ही हो सकते हैं, ईंट के घर नहीं—अरे यह तो कोई बड़ी इमारत है—क्या हो सकती है?

मानों उस के प्रश्न के उत्तर में ही सहसा आकाश में बादल कुछ फीका पड़ा और सहसा धुँधला-सा चाँद भी झलक गया। उस के अधूरे प्रकाश में सागर ने देखा—एक बड़ी-सी, ऊपर से चपटी-सी इमारत—मानो दुमंज़िली बारादरी...बरामदे से, जिस में कई-एक महराबें; एक के बीच से मानो आकाश झाँक दिया...

सागर ठिठक कर क्षण भर उसे देखता रहा। सहसा उसके भीतर कुछ जागा जिसने इमारत को पहचान लिया—यह तो अहोम राजाओं का क्रीड़ा-भवन है—क्या नाम है?—रंग-महल, नहीं, हवा-महल—नहीं, ठीक याद नहीं आता, पर यह उस बड़े पठार के किनारे पर है जिसमें जयमती—

एकाएक हवा सनसना उठी। आस-पास के पानी में जहाँ-तहाँ नर-

सल के झोंप थे, झुक कर फुसफुसा उठे, जैसे राजा के आने पर भृत्यों-सेवकों में एक सिहरन दौड़ जाय...एकाएक यह लक्ष्य कर के कि चाँद फिर छिपा जा रहा है, सागर ने घूम कर चीन्ह लेना चाहा कि ट्रक किधर कितनी दूर है, पर वह अभी यह भी तय नहीं कर सका था कि कहाँ क्षितिज है जिस के नीचे पठार है और ऊपर आकाश या मेघाली, कि चाँद छिप गया, और अगर उसने खूब अच्छी तरह आकार पहचान न रखा होता तो रंग-महल या हवा-महल भी खो जाता...

महल में छत होगी। वहाँ सूखा होगा। वहाँ आग भी जल सकती है। शायद बिस्तर लाकर सोया भी जा सकता है। ट्रक से तो यही अच्छा रहेगा—गाड़ी को तो कोई खतरा नहीं—

सागर जल्दी-जल्दी आगे बढ़ने लगा।

रंग-महल बहुत बड़ा हो गया था। उस की कुरसी ही इतनी ऊँची थी कि असमिया पर उस की ओट छिप जाये। पक्के फ़र्श पर पैर पड़ते ही सागर ने अनुमान किया, तीस-पैंतीस सीढ़ियाँ होंगी......सीढ़ियाँ चढ़ कर वह असली ड्योढ़ी तक पहुंचेगा।

ऊपर चढ़ते-चढ़ते हवा चीख उठी। कई मेहराबों से मानो उसने गुर्रा कर कहा, "कौन हो तुम, इतनी रात गये मेरा एकान्त भंग करने वाले ?" विरोध के फूत्कार का यह थपेड़ा इतना सच्चा था कि सागर मानो फुसफुसा ही उठा, "मैं—सागर, आसरा ढूँढता हूँ—रैनबसेरा—"

पोपले मुँह का बूढ़ा जैसे खिखिया कर हँसे, वैसे ही हवा हँस उठी। 'ही—ही—ही—खी—खी—खीः। यह हवा-महल है, हवा-महल—अहोम राजा का लीलागार—अहोम राजा का—व्यसनी, विलासी, छहों इन्द्रियों से जीवन की लिसड़ी बोटी से छहों रसों को चूस कर उसे झँझोड़ कर फेंक देने वाले नृशंस लीलापिशाचों की—यहाँ आसरा—यहाँ बसेरा··ही—ही—ही—खी—खी खीः!'

सीढ़ियों की चोटी से मेहराबों के तले खड़े सागर ने नीचे और बाहर की ओर देखा। शून्य, महाशून्य, बादलों से, बादलों में बसी नमी और

ज्वाला से, प्लवन, वज्र और बिजली से भरा हुआ शून्य ! क्या उसी की गुर्राहट हवा में है, या कि नीचे फैले नंगे पठार की, जिस के चूतड़ों पर दिन भर सड़-सड़ पानी के कोड़ों की बौछार पड़ती रही है ? उसी पठार का आक्रोश, सिसकन, रिरियाहट ?

इसी जगह, इसी मेहराब के नीचे खड़े कभी अधनंगे अहोम राजा ने अपने गठीले शरीर को दर्प से अकड़ा कर, सितार की खूंटी की तरह उमेठ कर, बायें हाथ के अंगूठे को कमरबन्द में अटका कर, सीढ़ियों पर खड़े क्षत-शरीर राजकुमारों को देखा होगा, जैसे कोई साँड खसिया बैलों के झुँड को देखे, फिर दाहिने हाथ की तर्जनी को उठा कर दाहिने भ्रू को तनिक-सा कुंचित कर के, संकेत से आदेश किया होगा कि यन्त्रणा को और कड़ी होने दो ।

लेफ़्टिनेंट सागर की टाँगें मानो शिथिल हो गयीं। वह सीढ़ी पर बैठ गया, पैर उसने नीचे को लटका दिये, पीठ मेहराब के निचले हिस्से से टेक दी । उसका शरीर थक गया था दिन भर स्टीयरिंग पर बैठे-बैठे और पौने दो सौ मील तक बनी कीचड़ की सड़क में बनी लीकों पर आखें जमाये रहने से आँखें भी ऐसे चुनचुना रहीं थीं मानो उनमें बहुत बारीक पिसी हुई रेत डाल दी गयी हो—आँखें बन्द भी वह करना चाहे और बन्द करने में क्लेश भी हो—वह आँख खुली रख कर ही किसी तरह दीठ को समेट ले, या बन्द करके देखता रह सके, तो...

अहोम राजा चूलिक-फा...राजा में ईश्वर का अंश होता है, ऐसे अन्धविश्वास पालने वाली अहोम जाति के लिए यह मानना स्वाभाविक ही था कि राजकुल का अक्षत शरीर व्यक्ति ही राजा हो सकता है, जिस के शरीर में कोई क्षत है, उसमें देवत्व का अंश कैसे रह सकता है ? देवत्व—और क्षुण्ण ? नहीं। ईश्वरत्व अक्षुण्ण ही हो होता है, और राज-शरीर अक्षत...

अहोम परम्परा के अनुसार कुल-घात के सेतु से पार होकर चूलिक-फा भी राजसिंहासन पर पहुँचा । लेकिन वह सेतु सदा के लिए खुला रहे,

इस के लिए उसने एक अत्यन्त नृशंस उपाय सोचा। अक्षत-शरीर राजकुमार ही राजा हो सकते हैं, अतः सारे अक्षत-शरीर राजकुमार उस के प्रतिस्पर्धी और सम्भाव्य घातक हो सकते हैं। उन के निराकरण का उपाय यह है कि सब का एक-एक कान या छिगुनी कटवा ली जाय—हत्या भी न करनी पड़े, मार्ग के रोड़े भी हट जायें। लाठी न टूटे साँप भी मरे नहीं पर उसके विषदन्त उखण जायें। क्षत-शरीर कनकट या छिगुनी-कटे राजकुमार राजा हो ही नहीं सकेंगे, तब उन्हें राज-घात का लोभ भी न सतायेगा।

चूलिक-फा ने सेनापति को बुला कर गुप्त आज्ञा दी कि रात में चुपचाप राज-कुल के प्रत्येक व्यक्ति के कान (या छिगुनी) काट कर प्रातःकाल दरबार में राज-चरणों में अर्पित किय जाय।

और प्रातःकाल वहीं, रंग-महल की सीढ़ियों पर, उस के चरणों में यह वीभत्स उपहार चढ़ाया गया होगा—और उस ने उसी दर्प-भरी अवज्ञा से, ओठों की तार-सी तनी पतली रेखा को तनिक मींड़-सी देकर, शब्द किया होगा, 'हूँ' और रक्तसने थाल को पैर से तनिक-सा ठुकरा दिया होगा!

चूलिक-फा—निष्कंटक राजा! लेकिन नहीं, यह तीर-सा कैसा साल गया? एक राजकुमार भाग गया—अक्षत।

लेफ़्टिनेंट सागर मानो चूलिका-फा के चीत्कार को स्पष्ट सुन सका। अक्षत! भाग गया?

वहाँ सामने—लेफ़्टिनेंट ने फिर आँखों को कस कर बादलों की दीरार को भेदने की कोशिश की—वहाँ सामने कहीं नगा पर्वत-श्रेणी है। वनवासी वीर नगा जातियों से अहोम राजाओं की कभी नहीं बनी—वे अपने पर्वतों के नंगे राजा थे, ये अपनी समतल भूमि के कौशेय पहन कर भी अध-नंगे रहने वाले महाराजा, पीढ़ियों के युद्ध के बाद दोनों ने अपनी-अपनी सीमायें बाँध ली थीं और कोई किसी से छेड़-छाड़ नहीं करता था—केवल सीमा-प्रदेश पर पड़ने वाली नमक की झीलों के लिए

युद्ध होता था क्योंकि नमक दोनों को चाहिये था। पर अहोम राजद्रोही नगा जातियों के सरदार के पास आश्रय पाये—असह्य है! असह्य!

हवा ने साँय-साँय कर के दाद दी...असह्य। मानो चूलिक-फा के विवश क्रोध की लम्बी साँस सागर की देह को छू गयी—यहीं खड़े हो कर तो उसने वह साँस खींची होगी—उस मेहराब ही की ईंट-ईंट में तो उस के सुलगते वायु-कण बसे होंगे?

लेकिन जायेगा कहाँ? उस की वधू तो है? वह जानेगी उस का पति कहाँ है...उसे जानना होगा! जयमती.. अहोम राज्य की अद्वितीय सुन्दरी—जनता की लाडली—होने दो! चूलिक-फा राजा है, वह शत्रु-विहीन निष्कंटक राज्य करना चाहता है! जयमती को पति का पता देना होगा—उसे पकड़वाना होगा—चूलिक-फा उस का प्राण नहीं चाहता, केवल एक कान चाहता है, या एक छिगुनी—चाहे बायें हाथ की भी छिगुनी! क्यों नहीं बतायेगी जयमती? वह प्रजा है; प्रजा की हड्डी-बोटी पर भी राजा का अधिकार है!

बहुत ही छोटे एक क्षण के लिए चाँद झलक गया। सागर ने देखा, सामने खुला, आकारहीन, दिशाहीन, मानातीत निरा विस्तार; जिस में नरसलों की साँय-साँय, हवा का असंख्य कराहटों के साथ रोना, उसे घेरे हुए मेहराबों की क्रुद्ध साँपों की-सी फुँफकार...चाँद फिर छिप गया और पानी की नयी बौछार के साथ सागर ने आँखें बन्द कर लीं...असंख्य सहमी हुई कराहें; और पानी की मार ऐसे जैसे नंगे चूतड़ों पर स-दिया प्रान्त के लचीले बेतों की सड़ाक्-सड़ाक्। स-दिया... अर्थात् शव-दिया; कब किस का शव वहाँ मिलता था याद नहीं आता, पर था शव जरूर—किस का शव...

नहीं, जयमती का नहीं। वह तो—वह तो उन पाँच लाख बेबस देखने वालों के सामने एक लकड़ी के मंच पर खड़ी है, अपनी ही अस्पृश्य लज्जा में, अभेद्य मौन में, अटूट संकल्प और दुर्दमनीय स्पर्द्धा में लिपटी हुई; सात दिन की भूखी-प्यासी, घाम और रक्त की कीच

से लथपथ, लेकिन शेषनाग के माथे में ठुकी हुई कीली की भाँति अडिग, आकाश को छूने वाली प्रातःशिखा-सी निष्कम्प...

लेकिन यह क्या ? सागर तिलमिला कर उठ बैठा। मानो अँधेरे में भुतही-सी दीख पड़ने वाली वह लाखों की भीड़ भी काँप कर फिर जड़ हो गयी—जयमती के गले से एक बड़ी तीखी करुण चीख निकल कर भारी वायु-मंडल को भेद गयी—जैसे किसी थुलथुल कछुए के पेट को मछेरे की बर्छी...सागर ने बड़ जोर से मुट्ठियाँ भींच लीं...क्या जयमती टूट गयी ? नहीं, यह नहीं हो सकता; नरसलों की तरह बिना रीढ़ के गिरती-पड़ती इस लाख जनता के बीच वही तो देवदारु-सी तनी खड़ी है, मानवता की ज्योतिःशलाका...

सहसा उसके पीछे से एक दृप्त, रूखी, अवज्ञा-भरी हँसी से पीतल की तरह झनझनाते स्वर ने कहा, "मैं राजा हूँ !"

सागर ने चौंक कर मुड़ कर देखा सुनहला रेशमी वस्त्र, रेशमी उत्तरीय, सोने की कंठी और बड़े-बड़े अनगढ़ पन्नों की माला पहने भी अधनंगा एक व्यक्ति उस की ओर ऐसी दया-भरी अवज्ञा से देख रहा था, जैसे कोई राह किनारे के कृमि-कीट को देखे। उस का सुगठित शरीर, छेनी से तराशी हुई चिकनी मांस-पेशियाँ, दर्प-स्फीत नासाएँ, तेल से चमक रही थीं, आँखों की कोर में लाली थी जो अपनी अलग बात कहती थी—मैं मद भी हो सकती हूँ, गर्व भी, रोष भी, विलास-लोलुपता भी, और निरी नृशंस नर-रक्त-पिपासा भी ..

सागर टुकुर-टुकुर देखता रह गया। न उठ सका न हिल सका। वह व्यक्ति फिर बोला, "जयमती ? हुँः, जयमती !" अंगूठे और तर्जनी की चुटकी बना कर उसने झटक दी, मानो हाथ का मैल कोई मसल कर फेंक दे। बिना क्रिया के भी वाक्य सार्थक होता है, कम-से-कम राजा का वाक्य...

सागर ने कहना चाहा, "नृशंस ! राक्षस !" लेकिन उसकी आँखों की लाली में एक बाध्य करने वाली प्रेरणा थी, सागर ने उस की

दृष्टि का अनुसरण करते हुए देखा, जयमती सचमुच लड़खड़ा गयी थी। चीखने के बाद उस का शरीर ढीला होकर लटक गया था, कोड़ों की मार रुक गयी थी, जनता साँस रोके सुन रही थी...

सागर ने भी साँस रोक ली। तब मानो स्तब्धता में उसे अधिक स्पष्ट दीखने लगा, जयमती के सामने एक नगा बाँका खड़ा था, सिर पर कलगी, गले में लकड़ी के मुंडों की माला, मुँह पर रंग की व्याघ्रोपम रेखाएँ, कमर में घास की चटाई की कौपीन, हाथ में बर्छी। और वह जयमती से कुछ कह रहा था।

सागर के पीछे एक दर्प-स्फीत स्वर फिर बोला, "चूलिक-फा के विधान में हस्तक्षेप करने वाला यह ढीठ नगा कौन है ?" पर सहसा उस नंगे व्यक्ति का स्वर सुनाई पड़ने लगा और सब चुप हो गये...

"जयमती, तुम्हारा साहस धन्य है। जनता तुम्हें देवी मानती है। पर और अपमान क्यों सहो ? राजा का बल अपार है—कुमार का पता बता दो और मुक्ति पाओ !"

अब की बार रानी चीखी नहीं। शिथिल-शरीर, फिर एक बार कराह कर रह गयी।

नगा वीर फिर बोला, "चूलिक-फा केवल अपनी रक्षा चाहता है, कुमार के प्राण नहीं। एक कान दे देने में क्या है ? या छिगुनी ? उतना तो कभी खेल में या मल्ल-युद्ध में भी जा सकता है।"

रानी ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"चुलिक-फा डरपोक है, डर नृशंस होता है। पर तुम कुमार का पता बता कर अपनी मान-रक्षा और पति की प्राण-रक्षा कर सकती हो।"

सागर ने पीछे सुना, "हुँ:", और मुड़ कर देखा, उस व्यक्ति के चेहरे पर एक क्रूर कुटिल मुस्कान खेल रही है।

सागर ने उद्धत होकर कहा, "हुँ: क्या ?"

वह व्यक्ति तन कर खड़ा हो गया, थोड़ी देर सागर की ओर देखता

रहा, मानों सोच रहा हो, इसे क्या वह उत्तर दे ? फिर और भी कुटिल ओठों के बीच से बोला, "मैं, चूलिक-फा, डरपोक ! अभी जानेगा। पर अभी तो मेरे काम की कह रहा है—"

नगा वीर जयमती के और निकट जा कर धीरे-धीरे कुछ कहने लगा। चूलिक-फा ने भौं सिकोड़ कर कहा, "क्या फुसफुसा रहा है ?"

सागर ने आगे झुक कर सुन लिया।

"जयमती, कुमार तो अपने मित्र नगा सरदार के पास सुरक्षित है। चूलिक-फा तो उसे पकड़ ही नहीं सकता, तुम पता बता कर अपनी रक्षा क्यों न करो ? देखो, तुम्हारी कोमल देह—"

आवेश में सागर खड़ा हो गया, क्योंकि उस कोमल देह में एक बिजली-सी दौड़ गयी और उसने तन कर, सहसा नगा वीर की ओर उन्मुख होकर कहा, "कायर, नपुंसक—तुम नगा कैसे हुए ? कुमार तो अमर है, कीड़ा चूलिक-फा उन्हें कैसे छुयेगा ? मगर क्या लोग कहेंगे, कुमार की रानी जयमती ने देह की यन्त्रणा से घबड़ा कर उस का पता बता दिया ? हट जाओ, अपना कलंकी मुँह मेरे सामने से दूर करो !"

जनता में तीव्र सिहरन दौड़ गयी। नरसल बड़ी ज़ोर से काँप गये; गँदले पानी में एक हलचल उठी जिस के लहराते गोल वृत्त फैले कि फैलते ही गये; हवा फुँफकार उठी, बड़े ज़ोर की गड़गड़ाहट हुई। मेघ और काले हो गये—यह निरी रात है कि महानिशा, कि यन्त्रणा की रात—सातवीं रात, कि नवीं रात ? और जयमती क्या अब बोल भी सकती है, क्या यह उस के दृढ़ संकल्प का मौन है, कि अशक्तता का ? और यह वही भीड़ है कि नयी भीड़, वही नगा वीर, कि दूसरा कोई, कि भीड़ में कई नगे बिखरे हैं...

चूलिक-फा ने कटु स्वर में कहा, "फिर आया वह नंगा ?"

नगा वीर ने पुकार कर कहा, "जयमती ! रानी जयमती !"

रानी हिली डुली नहीं।

वीर फिर बोला, "रानी मैं उसी नगा सरदार का दूत हूँ, जिस के यहाँ कुमार ने शरण ली है। मेरी बात सुनो !"

रानी का शरीर काँप गया। वह एकटक आँखों से उसे देखने लगी,

कुछ बोली नहीं। सकी नहीं।

"तुम कुमार का पता दे दो। सरदार उस की रक्षा करेंगे। वह सुरक्षित है।"

रानी की आँखों में कुछ घना हो आया। बड़े कष्ट से उसने कहा, "नीच!" एक बार उसने ओठों पर जीभ फेरी, कुछ और बोलना चाहा, पर सकी नहीं।

चूलिक-फा ने वहीं से आदेश दिया, "पानी दो इसे—बोलने दो!"

किसी ने रानी के ओठों की ओर पानी बढ़ाया। वह थोड़ी देर मिट्टी के कसोरे की ओर वितृष्ण दृष्टि से देखती रही, फिर उसने आँख भर कर नगा युवक की ओर देखा, फिर एक घूँट पी लिया। तभी चूलिक-फा ने कहा "बस एक-एक घूँट, अधिक नहीं!"

रानी ने एक बार दृष्टि चारों ओर लाख-लाख जनता की ओर दौड़ायी। फिर आँखें नगा युवक पर गड़ा कर बोली, "कुमार सुरक्षित है। और कुमार की यह लाख-लाख प्रजा—जो उन के लिए आँखें बिछाये है—एक नेता के लिए जिस के पीछे चल कर आततायी का राज्य उलट दे—जो एक आदर्श माँगती है—मैं उस की आशा तोड़ दूँ—उसे हरा दूँ—कुमार को हरा दूँ!"

वह क्षण भर चुप हुई। चूलिक-फा ने एक बार आँख दौड़ा कर सारी भीड़ को देख लिया। उसकी आँख कहीं टिकी नहीं...मानों उस भीड़ में उसे टिकने लायक कुछ नहीं मिला, जैसे रेंगते कीड़ों पर दीठ नहीं जमती...

नगा ने कहा, "प्रजा तो राजा चूलिक-फा की है न?"

रानी ने फिर उसे स्थिर दृष्टि से देखा। फिर धीरे-धीरे कहा "चूलिक—" और फिर कुछ ऐसे भाव से नाम अधूरा छोड़ दिया कि उसके उच्चारण से मुँह दूषित हो जायेगा। फिर कहा, "यह प्रजा कुमार की है—जाकर नगा सरदार से कहना कि कुमार—" वह फिर रुक गयी। पर तू—तू तो नगा नहीं, तू तो उस—उस गिद्ध की प्रजा है—जा उस के गन्दे पंजे की चाट!

रानी की आँख चूलिक-फा की ओर मुड़ी पर उसकी दीठ ने उसे

छुआ नहीं, जैसे किसी गिलगिली चीज़ की ओर आँखें चढ़ाने में भी घिन आती है...

नगा ने मुस्करा कर कहा, "कहाँ है मेरा राजा !"

चूलिक-फा ने वहीं से पुकार कर कहा, "मैं यह हूँ—अहोम राज्य का एकछत्र शासक !"

नगा युवक सहसा उसके पास चला आया।

सागर ने देखा, भीड़ का रंग बदल गया है। वैसा ही अन्धकार, वैसा ही अथाह प्रसार, पर उसमें जैसे कहीं व्यवस्था, भीड़ में जगह-जगह नगा दर्शक बिखरे, पर बिखरेपन में भी एक माप ..

नगा ने पास से कहा, "मेरे राजा !"

एकाएक बड़े ज़ोर की गड़गड़ाहट हुई। सागर खड़ा हो गया...उसने आँखें फाड़ कर देखा, नगा युवक सहसा बर्छी के सहारे कई-एक सीढ़ियाँ फाँद कर चूलिक-फा के पास पहुँच गया है, बर्छी सीढ़ी की ईंटों की दरार में फँसी रह गयी है, पर नगा चूलिक-फा को धक्के से गिरा कर उस की छाती पर चढ़ गया है; उधर जनता में एक बिजली कड़क गयी है, "कुमार की जय !" किसी ने फाँद कर मंच पर चढ़ कर कोड़ा लिये जल्लादों को गिरा दिया है, किसी ने अपना अंग-वस्त्र जयमती पर डाला है और कोई उसके बन्धन की रस्सी टटोल रहा है...

पर चूलिक-फा और नगा...सागर मन्त्र-मुग्ध-सा खड़ा था; उस की दीठ चूलिक-फा पर जमी थी...सहसा उसने देखा, नगा तो निहत्था है, पर नीचे पड़े चूलिक-फा के हाथ में एक चन्द्राकार डाओ है जो वह नगा के कान के पीछे साध रहा है—नगा को ध्यान नहीं है, मगर चूलिक-फा की आँखों में पहचान है कि नगा और कोई नहीं, स्वयं कुमार है; और वह डाओ साध रहा है...

कुमार छाती पर है, पर मर जायगा...या क्षत भी हो गया तो... चूलिक-फा ही मर गया तो भी अगर कुमार क्षत हो गया तो—सागर उछला। वह चूलिक-फा का हाथ पकड़ लेगा...डाओ छीन लेगा।

पर वह असावधानी से उछला था, उस का कीचड़-सना बूट सीढ़ी पर फिसल गया और वह लुढ़कता-पुढ़कता नीचे जा गिरा।

अब ? चूलिक-फा का हाथ सध गया है, डाओ पर उस की पकड़ खड़ी हो गयी है, अब—

लेफ्टिनेंट सागर ने वहीं पड़े-पड़े कमर से रिवाल्वर खींचा और शिस्त लेकर दाग दिया...धाँय !

धुआँ हो गया। हटेगा तो दीखेगा—पर धुआँ हटता क्यों नहीं ? आग लग गयी—रंग-महल जल रहा है, लपटें इधर-उधर दौड़ रही हैं क्या चूलिक-फा जल गया ?—और कुमार—क्या यह कुमारकी जयध्वनि है ? कि जयमती की—यह अद्भुत, रोमांचकारी गूंज, जिसमें मानो वह डूबा जा रहा है, डूबा जा रहा है—नहीं, उसे सँभलना होगा।

❀ ❀ ❀

लेफ्टिनेंट सागर सहसा जाग कर उठ बैठा। एक बार हक्का-बक्का होकर चारों ओर देखा, फिर उस की बिखरी चेतना केन्द्रित हो गयी। दूर से दो ट्रकों की दो जोड़ी बत्तियाँ पूरे प्रकाश से जगमगा रही थीं, और एक से सर्च-लाइट इधर-उधर भटकती हुई रंग महल की सीढ़ियों को क्षण-क्षण ऐसे चमका देती थी मानो बादलों से पृथ्वी तक किसी वज्र-देवता के उतरने का मार्ग खुल जाता हो। दोनों ट्रकों के हार्न पूरे जोर से बजाये जा रहे थे।

बौछार से भीगा हुआ बदन झाड़ कर लेफ्टिनेंट सागर उठ खड़ा हुआ। क्या वह रंग-महल की सीढ़ियों पर सो गया था ? एक बार आँखें दौड़ा कर उसने मेहराब को देखा, चाँद निकल आया था, मेहराब की ईंटें दीख रहीं थी। फिर धीरे-धीरे उतरने लगा।

नीचे से आवाज़ आयी, "सा'ब, दूसरा गाड़ी आ गया, टो करके ले जायगा !"

सागर ने मुँह उठा कर सामने देखा, और देखता रह गया। दूर चौरस ताल चमक रहा था, जिस के किनारे पर मन्दिर, भागते बादलों के बीच में काँपता हुआ, मानो शुभ्र चाँदनी से ढका हुआ हिंडोला—क्या एक रानी के अभिमान का प्रतीक, जिसने राजा को बचाया, या एक नारी के साहस का, जिसने पुरुष का पथ-प्रदर्शन किया; या कि मानव मात्र की अदम्य स्वातन्त्र्य-प्रेरणा का अभीत, अजेय, जय-दोल ?